शारदा-पुस्तक-माला ।

[२]

कालिदास ।

लेखक—

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

पौष, १९७७ ।

प्रथम संस्करण

१०००, प्रतियाँ

मूल्य कागज़ के अनुसार-
सादी जिल्द का ॥)
कपड़े की जिल्द का १)

प्रकाशक—
कार्य-कारिणी सभा,
राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर,
जबलपुर ।

विषय-सूची ।

सम्पादक का वक्तव्य ।

शारदा-पुस्तक-माला का द्वितीय ग्रन्थ, "कालिदास" पाठकों की सेवा में उपस्थित है। इस पुस्तक में उच्च कोटि की साहित्यिक समालोचना है जो हिन्दी के लिये सर्वथा उपादेय है। "कालिदास" के लेखक हिन्दी-भाषा के अनन्य भक्त और हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान उज्ज्वल रत्न पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी हैं जिनकी लेखनी का चमत्कार हिन्दी-भाषी पाठकों को अनेक वर्षों से दिखाई दे रहा है। द्विवेदीजी ने अपनी इस पुस्तक में कालिदास के जीवन-चरित्र और उनके काव्यों के गुणों के विषय में जो अपूर्व और मनोहर विचार प्रकट किये हैं, वे, हमारी समझ में, गवेषणा और मौलिकता से परिपूर्ण हैं। समालोचना का आदर्श और मनोरञ्जक उच्च विचारों का प्रतिबिम्ब जिन्हें देखना हो वे "कालिदास" को सावधानता-पूर्वक पढ़ने का परिश्रम अवश्य करें।

आनन्द का विषय है कि द्विवेदीजी ने कृपा कर अपनी प्रायः सभी नई पुस्तकें इस संस्था को, प्रकाशनार्थ, दे दी हैं। ये सब पुस्तकें क्रमशः प्रकाशित की जायँगी, और यथा-सम्भव सस्ते से सस्ते मूल्य पर बेची जायँगी।

जबलपुर,
मकर-संक्रांति,
सं० १९७३।

सम्पादक,
शारदा-पुस्तक-माला,
(राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर)।

(

नि

कालिदास के विषय
पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई ।
कवि और इसकी कविता से केवल
बहुतही कम अभिज्ञता रखते हैं । इ
इस पुस्तक से औरों का नहीं तो ऐसे
दो घड़ी कुछ मनोरञ्जन अवश्य हो जा

दौलतपुर, रायबरेली, |
११ श्रावण, १९७० । | महावीरप्रसाद

कालिदास।

१-कालिदास का आविर्भाव-काल।

गरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों में संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य आदि की चर्चा पहले की अपेक्षा इस समय अधिक है। इसका पुण्य इस देश के विद्वानों को कम, किन्तु योरप के विद्वानों को अधिक है। यदि योरप के पण्डित संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना, उनके परिशीलन, उनके प्रकाशन में दत्तचित्त न होते तो इस देश के अँगरेज़ी-विद्या-विशारदों का ध्यान शायद ही इस ओर आकर्षित होता। योरप के विद्वानों ने हिन्दुस्तान ही में नहीं, इँगलैंड और जर्मनी में भी संस्कृत की खूब चर्चा की है और अब तक

किये जा रहे हैं। जैसे जैसे वे संस्कृत में पारदर्शिता प्राप्त करते जाते हैं वैसे वैसे वे इस बात के अधिक कायल होते जाते हैं कि विद्या और विज्ञान में पाश्चात्य देश हिन्दुस्तान के कितने ऋणी हैं। इस विषय में जर्म्मनी के पण्डित अग्रणी हैं। उनको संस्कृत से बड़ा प्रेम है। जर्म्मनी के दस-पन्द्रह कालेजों में संस्कृत-भाषा के अध्यापन का प्रबन्ध है। वहाँ से आज तक सैकड़ों नहीं, हज़ारों संस्कृत के ग्रन्थ टीका, टिप्पणी और जर्म्मन-भाषानुवाद-सहित प्रकाशित हुए हैं। कई सामयिक पुस्तकें वहाँ से ऐसी निकलती हैं जिनमें सिर्फ़ संस्कृत-ग्रन्थ और संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी लेख रहते हैं। वहाँ संस्कृत के अनन्त दुष्प्राप्य ग्रन्थ सुरक्षित हैं। उनकी नामावली देखकर उनके असंख्येयत्व और महत्व के ख़याल से मन आश्चर्य्य-सागर में मग्न हो जाता है। यद्यपि इस देश में अँगरेज़ों का आधिपत्य है, और दो-डेढ़ सौ वर्षों से है, तथापि संस्कृत का पुनरुज्जीवन करने के लिये उनकी अपेक्षा जर्म्मनीवाले ही अधिक प्रयत्नशील हैं। इस बात को देखकर जान पड़ता है कि इस देश से जर्म्मनी का सम्बन्ध, इस विषय में, अधिक है, इँग्लेंड का कम। क्योंकि जर्म्मनी में कितनी ही जगह संस्कृत-भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध है, इँग्लेंड में सिर्फ़ आक्सफ़र्ड में। जर्म्मनी में इस समय भी दस-बीस संस्कृतज्ञ मिलेंगे, इँग्लेंड में सिर्फ़ दो ही चार।

किसी भाषा का इतिहास लिखना मानो उसके समग्र साहित्य का मन्थन करना है। संस्कृत-साहित्य अगाध है। अब तक उसकी थाह नहीं मिली। अतएव ऐसे साहित्य का इतिहास लिखना और भी कठिन काम है। क्योंकि इतिहास लिखने में सारे साहित्य का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। इतिहास-लेखक को वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, पुराण, स्मृति, तन्त्र, काव्य, साहित्य आदि सभी विषयों का अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। जिस विषय को वह जानता ही नहीं उस पर वह लिखेगा क्या? इसीसे संस्कृत का इतिहास लिखना बहुत बड़ी विद्वत्ता और बहुत अधिक परिश्रम-शीलता का काम है। फिर, यदि यही काम किसी विदेशी जर्मन या अँगरेज़ को करना पड़े तो उसकी कठिनता सौगुनी अधिक बढ़ गई समझनी चाहिए। परन्तु इन सब कठिनाइयों को झेलकर जर्मन-पण्डित मैक्समूलर और वेबर ने संस्कृत का इतिहास लिख डाला। उनका इतिहास दोष-पूर्ण ही क्यों न हो, अपूर्ण ही क्यों न हो, वे प्रशंसा-पात्र ज़रूर हैं। हम भारतवासियों से जो काम न हुआ वह उन्होंने कर दिया, यही क्या कम है? मनुष्य से भूल होती है। इन विद्वानों ने यदि इतिहास लिखने में भूलें की हों, या भ्रम-वश कुछ बातें आक्षेप-योग्य लिख दी हों, तो भारतीय विद्वान्, यदि कर सकें तो, उनका संशोधन कर दें। हर्ष की बात है कि दक्षिण के एक-आध पण्डित ने

संस्कृत का इतिहास लिखकर प्राचीन भ्रामक मतों का खण्डन किया भी है।

मोक्समूलर और वेबर के संस्कृत-इतिहास पुराने हो गये। उनके लिखे जाने के बाद बहुतसी नई नई बातें मालूम हुई हैं, बहुतसे मत बदल गये हैं, बहुतसे अप्राप्य ग्रन्थ प्राप्त होकर प्रकाशित हो गये हैं। मोक्समूलर और वेबर के लिखे इतिहास कीमती भी ज़ियादह हैं। मोक्समूलर की पुस्तक तो अब मिलती भी नहीं। इन्हीं बातों के ख़याल से "Literatures of the World" (सारे संसार के भाषा-साहित्य) नामक पुस्तक-माला में प्रकाशित होने के लिए, अध्यापक मेकडानल ने अँगरेज़ी में संस्कृत-साहित्य का एक और इतिहास लिखा है। मेकडानल साहब आक्सफर्ड में संस्कृताध्यापक हैं। कोई २५ वर्ष से आप संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन में लगे हुए हैं। वैदिक-साहित्य-विषयक कई ग्रन्थ आपने लिखे हैं। आप अच्छे वैयाकरण भी मालूम होते हैं। क्योंकि अध्यापक मोक्समूलर के संस्कृत-व्याकरण का एक संक्षिप्त संस्करण भी आपने प्रकाशित किया है। यदि आप और कुछ न लिखते, तो भी आपका अकेला संस्कृत-साहित्येतिहास ही आपकी विद्वत्ता और योग्यता का परिचय देने के लिए काफ़ी होता।

अध्यापक मेकडानल का इतिहास प्रकाशित हुए अभी बहुत वर्ष नहीं हुए। खोज और जाँच से जितनी

नई नई बातें मालूम हुई हैं सब का समावेश आपने इस पुस्तक में किया है। पुस्तक उत्तम हुई है। उसे देखकर भारतवासियों को लज्जित होना चाहिए। क्योंकि बड़े बड़े उपाधिधारी भारतवासी संस्कृत के अद्वितीय ज्ञाता होकर भी, संस्कृत का इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं करते। और, यदि संस्कृत-सम्बन्धी कोई लेख, पुस्तक, या अनुवाद लिखते भी हैं तो अँगरेज़ी में लिखकर अँगरेज़ी भाषा को बन्दी बनाते हैं। अपनी मातृभाषा लिखते उन्हें शरम लगती है। हिन्दी जाननेवाले लाखों-करोड़ों भारतवासियों को, संस्कृत में छिपे पड़े हुए अनेक उज्ज्वल रत्नों का प्रकाश दिखाने की वे ज़रूरत नहीं समझते। ज़रूरत समझते हैं वे देशी और विदेशी अँगरेज़ी महानुभावों को अपने विद्वत्त्व-प्रकाश की चमक दिखाने की।

अध्यापक मेकडानल ने अपना इतिहास पक्षपात-रहित होकर लिखा है। जहाँ तक उन्हें प्रमाण मिला है, निडर होकर उन्होंने पाश्चात्य देशों को, विद्या, विज्ञान और कला-कौशल में भारत का ऋणी बताया है। प्राचीनों पर नवीनता का आरोप बेपरवाही से नहीं किया। आपकी पुस्तक में एक बहुत बड़ी बात यह देखने में आई कि आपने किसी भी विषय का विचार करते समय उद्दण्डता नहीं की; शालीनता ही दिखाई है। काव्यों के विषय में एक जगह आप लिखते हैं—

"It is impossible even for the Sanscrit scholar, who has not lived in India, to appreciate fully the merits of this later poetry, much more so for those who can only become acquainted with it in translations."

अर्थात् संस्कृत का चाहे कोई जितना विद्वान् हो यदि वह हिन्दुस्तान में नहीं रहा तो भारत, रामायण और अन्यान्य काव्यों के गुणोत्कर्ष का पूरा पूरा अन्दाज़ा करना उसके लिए असम्भव है। जिन्होंने इन काव्यों का परिचय, सिर्फ अनुवाद पढ़कर ही, प्राप्त किया है उनके लिए तो यह और भी असम्भव है। इसके कुछ दूर आगे आपने लिखा है कि वे एक ऐसे विद्वान् को जानते हैं जिसने भारतीय संस्कृत-काव्यों के अगाध समुद्र में ऐसी डुबकी लगाई है कि उसे अब और किसी भाषा के काव्यों में आनन्द ही नहीं मिलता।

इससे मालूम होता है कि अध्यापक मेकडानल संस्कृत-साहित्य के महत्व और विदेशी विद्वानों की न्यूनता को अच्छी तरह समझते हैं। इस गुण-ग्राहकता और यथार्थवाद के लिए हम आपका हृदयसे अभिनन्दन करते हैं। आपके इन्हीं गुणों से उत्साहित और साहसवान् होकर हम आपसे कालिदास के विषयमें कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

यह जन-श्रुति इस देश में हज़ारों वर्षों से चली आती है कि कालिदास, विक्रमादित्य के सभा-पण्डित थे। विक्रमादित्य का संवत् प्रचलित है। इस संवत् का आरम्भ ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले, सितम्बर की १८ तारीख़, बृहस्पतिवार, को हुआ था। पर ईसा के पहले सचमुच ही कोई विक्रमादित्य इस देश में था या नहीं, इसका ऐतिहासिक प्रमाण चाहिए कोई शिला-लेख, कोई दान-पत्र, कोई शासन-पत्र। सो कुछ नहीं मिला। पाश्चात्य विद्वानों का पहले ख़याल था कि संस्कृत की विशेष उन्नति ईसा के छठे शतक में हुई। अतएव उन्होंने अनुमान किया कि कालिदास के रघुवंश और शकुन्तला आदि ग्रन्थ उसी समय बने होंगे। अर्थात् कालिदास का स्थिति-काल छठी शताब्दी हुआ। अब रहा विक्रमादित्य, सो उसके समय का भी मेल कालिदास के समय से मिल गया। फर्गुसन साहब ने लिखा कि विक्रमादित्य नाम के एक राजा ने, ५४४ ईसवी में, शकों को परास्त किया। इस घटना की यादगार में उसीने छठी शताब्दी में अपने नाम का विक्रम-संवत् चलाया। परन्तु उस समय से छः सौ वर्ष पहले से !!! अर्थात् विक्रमादित्य पर एक नई घटना को छः सौ वर्ष की पुरानी बतलाने का आरोप लगाया गया। इस आरोप में इस देश के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर भाऊ दाजी भी शायद शामिल थे। पर और जाँच करने पर मालूम हुआ

कि छठे शतक में शक तो नहीं, हूण अलबत्ते इस देश से निकाले गये थे। पर इनको निकालनेवाले राजा का नाम था यशोधर्म्मा (विष्णु-वर्द्धन), विक्रमादित्य नहीं। इन सब का निष्कर्ष यह निकला कि छठी शताब्दी में विक्रमादित्य कोई था ही नहीं।

इसके बाद बूलर, पीटर्सन और फ्लीट आदि साहबों ने, कुछ खुदे हुए लेखों के आधार पर, यह राय दी कि विक्रम-संवत् ५४४ ईसवी में नहीं आरम्भ हुआ था। यह उसके सौ वर्ष से भी अधिक पहले जारी था। पर उस समय उसका नाम था मालव-संवत्। कोई ८०० ईसवी के करीब इसी मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् हो गया। उसका नाम मालव-संवत् पहले क्यों पड़ा ? फिर क्यों विक्रम-संवत् नाम हुआ ? किसने मालव-संवत् चलाया ? इन बातों पर बहस करने की यहाँ ज़रूरत नहीं, यहाँ इस उल्लेख से सिर्फ इतना ही मतलब है कि *छठे शतक में विक्रमादित्य नामक राजा न थे*, और उनका तथा कालिदास का अखण्ड सम्बन्ध होने के कारण, कालिदास भी उस समय न थे। अच्छा, तो विक्रमादित्य थे कब ? "The Great King Vikramaditya vanishes from the historical ground of the 6th century into the realm of myth"। वे छठे शतक की ऐतिहासिक भूमि से उड़कर पौराणिक किस्से-

कहानियों के राज्य में जा गिरे। अर्थात् उनकी स्थिति का कुछ भी पता-ठिकाना नहीं, यह मेकडानल साहब की राय हुई।

, कालिदास के छठे शतक में होने के और जो जो अनुमान विद्वानों ने किये थे उन सब का खण्डन अध्यापक मेकडानल ने स्वयं ही कर दिया। इससे उनके विषय में हम कुछ नहीं कहते। पर अध्यापक महाशय को कालिदास के बहुत पुराने, अर्थात् ईसा के पहले, पहली शताब्दी में, होने का कोई प्रमाण नहीं मिला। अनुमान की भी कोई जगह आपको नहीं मिली। आपने इस महाकवि को सिर्फ १०० वर्ष पहिले और पहुँचाया। "Thus, there is, in the present state of our knowledge, good reason to suppose that Kalidas lived not in the 6th, but in the beginning of the 5th century A. D." अर्थात् पाँचवें शतक के आरम्भ में कालिदास के होने का अनुमान करने के लिए यथेष्ट कारण है। क्यों? इसलिए—

४७२ ईसवी का एक खुदा हुआ लेख मन्दसोर में मिला है। यह लेख कविता-बद्ध है। कविताकार का नाम था वत्सभट्टि। उसने कालिदासीय कविता का अनुसरण किया है। कई बातों में इस कवि की कविता कालिदास की कविता से मिलती है। इसीसे साहब ने, और अन्यान्य

पाश्चात्य पण्डितों ने भी यह अनुमान किया कि कालिदास पाँचवें शतक के आरम्भ में, अर्थात् वत्सभट्टि से कोई ५० वर्ष पहले, विद्यमान थे।

इसके साथ ही साहब की यह भी राय है कि *गिरिनार में, ईसा की दूसरी शताब्दी के जो खुदे हुए लेख, गद्य में मिले हैं उनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी* अच्छी कविता का प्रचार था। अर्थात् जिस ढङ्ग की कविता कालिदास, भवभूति आदि की है उसी ढङ्ग की कविता दूसरे शतक में भी होती थी। यही नहीं, किन्तु ईसा के पहले शतक में भी आलङ्कारिक कविता होती थी। अश्वघोष नामक बौद्ध भिक्षु ८० ईसवी में हुआ है। उसने बुद्ध-चरित नामक काव्य लिखा है। वह अच्छा काव्य है। काव्य ही नहीं, महाकाव्य है। खुद उसीमें लिखा है कि वह महाकाव्य है। तिस पर भी मेकडानल साहब कालिदास की स्थिति पाँचवें शतक के आरम्भ में ही अनुमान करते हैं। अधिक से अधिक आप इतना ही कहते हैं कि इस स्थिति-*निर्णय में अब भी शायद सौ दो सौ वर्षों का फरक हो,* ("And is even now doubtful to the extent of a century or two".)

अब जो हम बुद्ध-चरित को देखते हैं तो उसमें कालिदास के काव्यों की छाया एक नहीं, अनेक जगहों पर *मिलती है।* कुछ नमूने नीचे देखिए—

	अश्वघोष		कालिदास
(१)	अतोऽपि नैकान्त-सुखोऽस्तिकश्चिन् नैकान्तदुःखःपुरुषः पृथिव्याम्	=	कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
(२)	मूढः परप्रत्ययतो हि को व्रजेत्	=	मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः
(३)	प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराज्ञाम्	=	तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञाम्
(४)	वाता ववुः स्पर्श-सुखा मनोज्ञाः	=	वाता ववुः स्पर्शसुखाः प्रसेदुः
(५)	तं द्रष्टुं न हि शेक-तुर्न मोक्तुम्	=	न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्
(६)	दिशः प्रसेदुः प्रब-भौ निशाकरः	=	दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः
(७)	कनकवलयभूषि-तप्रकोष्ठैः	=	कनकवलयभ्रंशरिक्त-प्रकोष्ठः
(८)	इक्ष्वाकुवंशप्रभव-स्य राज्ञः	=	इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वाम्

कालिदास की छाया के ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। अश्वघोष की कविता में कालिदास की

कविता का शब्दगत ही साहृश्य नहीं, किन्तु पदगत-साहृश्य, अर्थगत-साहृश्य, अलङ्कारगत-साहृश्य भी मिलता है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि अश्वघोष के समय में कालिदास की कविता खूब प्रसिद्ध हो गई थी और अश्वघोष ने उसकी खूब सैर की थी। सैर ही नहीं, उसकी जिह्वा पर वह चढ़ी हुई थी। अन्यथा इतनी सदृशता कभी न पाई जाती। प्रतिभा के बल से जो बात एक कवि कह देता है वही दूसरा भी कह सकता है। पर यह नहीं कि एक कहे "वाता ववुः स्पर्शसुखाः" तो दूसरा भी कहे "वाता ववुः स्पर्शसुखाः"। एक कहे "इक्ष्वाकुवंशप्रभवः" तो दूसरा भी कहे "इक्ष्वाकुवंशप्रभवः"। अच्छा, यदि दो एक दफे ऐसा हो भी तो यह कदापि सम्भव नहीं कि बार बार हो। बिना एक-दूसरे की कविता को देखे इस तरह उक्ति, अर्थ, पद, शब्द आदि के साहृश्य बार बार मुँह से नहीं निकल सकते। तो फिर अश्वघोष से कालिदास प्राचीन हुए। अश्वघोष को आप ईसा की पहली शताब्दी में हुआ बतलाते हैं। कालिदास को कम से कम सौ वर्ष तो पहले हुआ बतलाइए। क्योंकि मालवा से काश्मीर तक उसकी कविता के प्रचार में इतना समय तो अवश्य ही लगा होगा। जिस वत्सभट्टि की कविता मन्दसोर में मिली है वह वहीं कहीं आसपास का रहनेवाला होगा। कालिदास की स्थिति भी मालवा ही में प्रसिद्ध है। अतएव जब एक मालवावासी कवि के मन

पर कालिदास की कविता का संस्कार ५० वर्ष के बाद हुआ आप बतलाते हैं, तब सुदूर पश्चिम-प्रान्त के अश्वघोष को कालिदास की कविता का परिचय होने में १०० वर्ष यदि लगे हों तो कुछ असम्भव नहीं।

आप शायद यह कहें कि इसका क्या प्रमाण है कि अश्वघोष ही ने कालिदास की छाया ली। सम्भव है, कालिदास अश्वघोष के बाद हुए हों और उन्होंने अश्वघोष की छाया ली हो। उत्तर में प्रार्थना है कि वत्सभट्टि को और कालिदास की कविता का अनुसरण करनेवाला क्यों कहते हैं? कालिदास ही को आप वत्सभट्टि का अनुयायी क्यों नहीं कहते? सम्भव है, वत्सभट्टि कोई बहुत बड़ा कवि रहा हो। उसने महाकाव्य बनाये हों। वे कालिदास के समय में प्रचलित रहे हों। अब न मिलते हों। अतएव यह क्यों न कहिए कि वत्सभट्टि के बाद छठी शताब्दी ही में (वही पुरानी बात) कालिदास थे। परन्तु, हमें आशा है, इस तरह की दलीलें कोई समझदार आदमी न पेश करेगा। कालिदास बहुत प्रसिद्ध कवि थे। उनकी कीर्ति जल्द दूर दूर तक फैल गई होगी और उनके काव्यों का प्रचार भी जल्द हो गया होगा। प्रसिद्ध ग्रन्थकार की कृति देखने का शौक पण्डितों को स्वभाव ही से होता है। अश्वघोष और वत्सभट्टि, कालिदास की टक्कर के कवि न थे। अतएव कालिदास की कविता की छाया लेना उन्हींके लिए अधिक

युक्तिसङ्गत मालूम होता है।

यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि कालिदास की ऐसी विशुद्ध संस्कृत के खुदे हुए लेख, ईसा के सौ वर्ष पहले के कोई नहीं मिले। इस तरह का सब से प्राचीन लेख जो मिला है यह ईसा की दूसरी शताब्दी का है। अतएव यह कैसे माना जा सकता है कि उससे दो-ढाई सौ वर्ष पहले ऐसी विशुद्ध और परिमार्जित भाषा लिखी जाती थी, अथवा ऐसे मनोहर काव्यों का निर्म्माण होता था। इसका उत्तर यह है कि अप्राप्ति का अर्थ अभाव नहीं। कालिदास के समय के विशुद्ध-भाषा-पूर्ण शिला-लेख या ताम्रपत्र नहीं मिले, इससे यह अर्थ कहाँ निकलता है कि ऐसी भाषा उस समय थी ही नहीं। फिर, सारी भारतभूमि तो खोद डाली नहीं गई। सम्भव है, इस तरह के लेख कहीं अबतक दबे पड़े हों। वाल्मीकि-रामायण को तो प्रोफ़ेसर मेकडानल भी ईसा से पुरानी बताते हैं। उसके कुछ हिस्से को आप ईसा से ५०० वर्ष पुराना कहते हैं। अब आप यदि उसके कम पुराने हिस्से की भाषा को कालिदास की कविता से मिला देखेंगे तो, हमें विश्वास है, कि दोनों में बहुत अधिक भेद न पायेंगे—

(१) चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥

(२) या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
यथा प्रदोषेषु च सागरस्था ।
तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
रराज सा चारु निशाकरस्था ।

(३) हंसो यथाराजत पञ्जरस्थः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थ—
श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ॥

यह वाल्मीकि की कविता है। अब यदि आप इसे ईसा से दो-सौ वर्ष की पुरानी मानें तो भी आपको यह कहने की मुतलक़ जगह नहीं कि कालिदास के समय में विशुद्ध, परिमार्जित, और आलङ्कारिक कविता नहीं लिखी जाती थी। वाल्मीकि की गवाही हज़ार शिला-लेखों की गवाही से कम विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। वाल्मीकि की कविता के पूर्वोद्धृत नमूने कैसे सरस, कैसे सालङ्कार और कैसे परिमार्जित हैं, यह तो आपको बताने की ज़रूरत ही नहीं।

यदि कालिदास की स्थिति पाँचवें शतक के आरम्भ में मान ली जाय तो क्या उस समय या उसके उत्तर-काल में कालिदास की ऐसी कविता और भी किसीको प्राप्त हुई है? यदि क्रम-क्रम से परिमार्जित संस्कृत की उन्नति मानी जाय तो पाँचवें शतक के बाद तो कालिदास की कविता से

भी बढ़कर कविता होनी चाहिए थी
कविता, कोई पुस्तक, कोई ग्रन्थ, कोई
इस विषय में कालिदास से किसीका
गया। बात यह है कि विशुद्ध, सरल औ
लिखना सबका काम नहीं। कालिदास
बढ़कर था। इसीसे नये-पुराने किसी क
भाषा और कविता नहीं लिख पाई।

इस विवेचन से सिद्ध है कि ईसा
वर्ष पहले भी परिमार्जित संस्कृत का प्रच
और, चूँकि अश्वघोष की कविता में कालि
की छाया विद्यमान है, अतएव कालिदास
के पहले के हैं। रोज़ डेविड्स साहब ने
में अनुमान किया है कि अश्वघोष का बुद्ध
दूसरी शताब्दी की रचना है। यदि यह
तो भी कालिदास दूसरी शताब्दी से पुरा
किसी तरह उन्हें पाँचवीं शताब्दी के आर
का तो मौका मिले।

अमित-गति नाम का एक जैन पण्डि
उसने सुभाषित-रत्न-सन्दोह नामक एक ग्रन्
उसके अन्त में आपने लिखा है —

"संप्राप्ते पञ्चम्यामयति धरणिं मुञ्जनृपतौ ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

इससे सूचित होता है कि जिस समय राजा मुञ्ज राज्य करता था उस समय यह पुस्तक समाप्त हुई और उस समय विक्रमादित्य को मरे १०५० वर्ष हुए थे। मुञ्ज का समय ईसा की दशवीं शताब्दी है। इस हिसाब से उसे हुए कोई ६०० वर्ष हुए। यदि ६०० वर्षों में १०५० वर्ष जोड़ दिये जायँ तो १६५० हो जायँ अर्थात् यह संख्या विक्रम-संवत् के लगभग पहुँच जाय। इससे स्पष्ट है कि एक हज़ार वर्ष पहले भी बड़े बड़े पण्डित, और मालवे के पण्डित, विक्रम के अस्तित्व को मानते थे। उसे पौराणिक क़िस्से-कहानियों का भूत नहीं समझते थे।

कालिदास का समय ईसा के पहले, पहले शतक में, सिद्धप्राय है। विक्रम का और कालिदास का अखण्ड साथ था। जनश्रुति यही कहती है। अतएव विक्रम की ऐतिहासकता को एक-दम ही न क़बूल करना ज़रा साहस का काम है। कितने ही विक्रमादित्य हो गये हैं। ईसा के ५५ वर्ष पहले कोई विक्रमादित्य न था, इसका तो प्रमाण आजतक कहीं मिला नहीं। जनश्रुति और अमितगति आदि पण्डितों के कथन से तो उसका होना ही साबित होता है। यदि उसके होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं तो उसके न होने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। इस तुल्य-बलत्व

की अवस्था में अध्यापक मेकडानल का यह कह
शतक में विक्रमादित्य की स्थिति का प्रमाण न मिल
कहानियों का फ़ान्त हो गया, सर्वथा अनुचित है।
संवत् ही का पहला नाम मालव-संवत् है। ठीक
इसका पता तो अभी तक लगा नहीं कि उसे किस
था। यदि यह साबित हो जाता कि उसका प्रच
और ही था, विक्रमादित्य न था, तो विक्रम
विषय में अध्यापक महाशय ने जो राय दी है व
युक्तिसङ्गत होती।

जू

[२]

कालिदास कब हुए, इसका पता ठीक ठ
लगता। इस विषय में न तो कालिदास ही ने अप
काव्य या नाटक में कुछ लिखा और न किसी और ही
कवि या ग्रन्थकार ने कुछ लिखा। प्राचीन भारत के
को इतिहास से विशेष प्रेम न था। इस लोक की स
अल्पकालिक जानकर वे उसे तुच्छ दृष्टि से देखते थे।
लोक ही का उन्हें विशेष ख़याल था। इस कारण पार
समस्याओं को हल करना ही उन्होंने अपने जीव
प्रधान उद्देश समझा। ऐसी स्थिति में कवियों और
का चरित कोई क्यों लिखता और देश का इतिहास लि

यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के नव-रत्नों में थे। नौ पण्डित उनकी सभा के रत्न-रूप थे; उन्हींमें कालिदास की भी गिनती थी। खोज से यह बात भ्रम-मूलक सिद्ध हुई है। "धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशङ्कु"—आदि पद्य में जिन नौ विद्वानों के नाम आये हैं वे कब समकालीन न थे। वराहमिहिर भी इन्हीं नौ विद्वानों में थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका में लिखा है कि शक ४२७, अर्थात् ५०५ ईसवी, में इसे मैंने समाप्त किया। अतएव जो लोग ईसा के ५७ वर्ष पूर्व उज्जैन के महाराज विक्रमादित्य की सभा में इन नौ विद्वानों का होना मानते हैं वे भूलते हैं।

कालिदास विक्रमादित्य के समय में ज़रूर हुए, पर ईसा के ५७ वर्ष पहले नहीं। ईसा के चार-पाँच सौ वर्ष बाद किसी और ही विक्रमादित्य के समय में वे हुए। इस राजा की भी राजधानी उज्जैन थी। यह नया मत है। इसके पोषक कई देशी और विदेशी विद्वान् हैं। इन विद्वानों में कई का कथन तो यह है कि कालिदास किसी राजा या महाराजा के आश्रित ही न थे। वे गुप्तवंशी किसी विक्रमादित्य के शासन-काल में थे अवश्य; पर उसका आश्रय उन्हें न था। हाँ, यह हो सकता है कि वे उज्जैन में बहुत दिनों तक रहे हों और उज्जयिनी-नरेश से सहायता पाई हो। परन्तु उज्जयिनी के अधीश्वर के वे अधीन न थे। उनका नाटक

अभिज्ञान-शाकुन्तल उज्जैन में महाकाल-महाद्
उत्सव विशेष में, विक्रमादित्य के सामने, खेल
यदि वे राजाश्रित थे तो इस नाटक को उन्होंने अ
दाता को क्यों न समर्पण किया ? खैर, अभी इ
बहुत कुछ कहना है।

कालिदास के स्थिति-काल के विषय में
भिन्न-भिन्न, विद्वानों ने भिन्न-भिन्न, न मालूम
प्रकाशित किये हैं। उनमें से कौन ठीक है, कौ
इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। सम्भव
से एक भी ठीक न हो। तथापि उनमें से दो-च
मुख्य मतों का उल्लेख करना हम यहाँ पर उचित स

सर विलियम जोन्स और डाक्टर पीटर्सन
है कि कालिदास ईसवी सन के ५७ वर्ष पूर्व, उज
नरेश महाराज विक्रमादित्य के सभापण्डित थे।
पण्डित नन्दर्गीकर का भी यही मत है और इस
उन्होंने बड़ी ही योग्यता और युक्ति-पूर्ण कल्पनाओं
किया है। अश्वघोष ईसा की पहली शताब्दी में
थे। उनके बुद्ध-चरित-नामक महाकाव्य से अनेक
देकर नन्दर्गीकर ने यह सिद्ध किया है कि कालि
काव्यों को देखकर अश्वघोष ने अपना काव्य बना
क्योंकि उसमें कालिदास के काव्यों के पद ही नहीं, कि

लेख नं० (१) में दिये जा चुके हैं।

डाक्टर वेबर, लासन, ऐकोबी, मानियर विलियम्स और प्रो० एस्० रामी का मत है कि कालिदास ईसा के दूसरे शतक से लेकर चौथे शतक के बीच में विद्यमान थे। उनके काल इसके पहले के नहीं हो सकते। उनकी भाषा और उनके वर्णन-विषय आदि से यही बात सिद्ध होती है।

वत्सभट्टि की रची हुई जो कविता एक शिला पर खुदी हुई, प्राप्त हुई है उसमें मालव-संवत् ५२९, अर्थात् ४७३ ईसवी, अङ्कित है। यह कविता कालिदास की कविता से मिलती-जुलती है। अतएव अध्यापक मुग्धानलाचार्य्य का अनुमान है कि कालिदास ईसा की पाँचवीं शताब्दी के कवि हैं। विन्सेंट स्मिथ साहब भी कालिदास को इतना ही पुराना मानते हैं, अधिक नहीं। डाक्टर भाऊ दाजी ने बहुत कुछ भवति न भवति करने के बाद यह अनुमान किया है कि उज्जैन के अधीश्वर हर्ष-विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर पर शासन करने के लिए भेजे गये मातृगुप्त ही का दूसरा नाम कालिदास था। अतएव उनका स्थिति-काल छठी सदी है। दक्षिण के श्रीयुत पण्डित के० बी० पाठक ने भी कालिदास का यही समय निश्चित किया है। डाक्टर फ्लीट, डाक्टर फर्गुसन, मिस्टर आर० सी० दत्त और पण्डित हरप्रसाद शास्त्री भी इसी निश्चय या अनुमान के पृष्ठ-पोषक हैं। इसी तरह और भी कितने ही विद्वानों ने

कालिदास के विषय में लेख लिखे हैं और अपनी अपनी तर्कना के अनुसार अपना अपना निश्चय, सर्वसाधारण के सम्मुख, रक्खा है।

कालिदास के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक आधार तो है नहीं। उनके काव्यों की भाषा-प्रणाली, उनमें जिन ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख है उनके स्थिति-समय और जिन परवर्ती कवियों ने कालिदास के ग्रन्थों के हवाले या उनसे अवतरण दिये हैं उनके जीवनकाल के आधार पर ही कालिदास के समय का निर्णय विद्वानों को करना पड़ता है। इसमें अनुमान ही की मात्रा अधिक रहती है। अतएव जबतक और कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता, अथवा जबतक किसी का अनुमान औरों से अधिक युक्तिसङ्गत नहीं होता, तबतक विद्वज्जन इस तरह के अनुमानों से भी सत्य संग्रह करना अनुचित नहीं समझते।

दो-तीन वर्ष पहले, विशेष करके १९०९ ईसवी में, लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में डाक्टर हार्नले, मिस्टर विन्सेंट स्मिथ आदि कई विद्वानों ने कालि-दास के स्थिति-काल के सम्बन्ध में कई बड़े ही गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। इन लेखों में कुछ नई युक्तियाँ दिखाई गईं। डाक्टर हार्नले आदि ने, और और बातों के सिवा, रघुवंश से कुछ पद्य ऐसे उद्धृत किये जिनमें 'स्कन्द', 'कुमार', 'समुद्र' आदि शब्द पाये जाते हैं। यथा—

(१) आसमुद्रक्षितीशानां—
(२) आकुमार कथोद्घातं —
(३) स्कन्देन साक्षादिव देवसेनां—

यहाँ 'स्कन्द' से उन्होंने स्कन्दगुप्त, 'कुमार' से कुमारगुप्त और 'समुद्र' से समुद्रगुप्त का भी अर्थ निकाला। उन्होंने कहा कि ये श्लिष्ट पद हैं, अतएव द्व्यर्थक हैं। इनसे दो-दो अर्थ निकलते हैं। एक तो साधारण, दूसरा असाधारण, जो गुप्त राजाओं का सूचक है। इस पर एक बङ्गाली विद्वान् ने इन लोगों की बड़ी हँसी उड़ाई। उन्होंने दिखलाया कि यदि इस तरह के दो-दो अर्थवाले श्लोक ढूँढे जायँ तो ऐसे और भी कितने ही शब्द और श्लोक मिल सकते हैं। परन्तु उनके दूसरे अर्थ की कोई सङ्गति नहीं हो सकती। हम यह लेख देहात में बैठे हुए लिख रहे हैं। एशियाटिक सोसायटी के जर्नल के वे अङ्क हमारे पास यहाँ नहीं। इस कारण हम उक्त लेखक के कारिकम के उदाहरण नहीं दे सकते।

जब से हार्नले आदि ने यह नई युक्ति निकाली तब से कालिदास के स्थिति-काल-निर्णायक लेखों का तूफान सा आ गया है। लोग आकाश-पाताल एक कर रहे हैं। कोई कहता है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में थे, कोई कहता है, कुमारगुप्त के समय में थे; कोई कहता है, स्कन्दगुप्त के समय में थे; कोई कहता है, यशोधर्म्मन् विक्रमा-

दित्य के समय में थे। इसी पिछले राजा ने हूण-नरेश मिहिरगुल को, ५३२ ईसवी में, मुलतान के पास, करूर में परास्त करके हूणों को सदा के लिए भारत से निकाल दिया। इसी विजय के उपलक्ष्य में यह शकारि विक्रमादित्य कहलाया। इस विषय में, आगे और कुछ लिखने के पहले, मुख्य मुख्य गुप्त-राजाओं की नामावली और उनका शासन-काल लिख देना अच्छा होगा। इससे पाठकों को पूर्वोक्त पण्डितों की युक्तियाँ समझने में सुभीता होगा। अच्छा, अब इनके नाम आदि सुनिए —

(१) चन्द्रगुप्त, प्रथम, (विक्रमादित्य), मृत्यु ३२६ ईसवी।

(२) समुद्रगुप्त, शासन—काल ३२६ से ३७५ ईसवी तक।

(३) चन्द्रगुप्त, द्वितीय, (विक्रमादित्य), शासन-काल ३७५ से ४१३ ईसवी तक।

(४) कुमारगुप्त, प्रथम
(५) स्कन्दगुप्त
} शासन—काल ४१३ से ४८० ईसवी तक।

(६) नरसिंहगुप्त
(७) यशोधर्म्मन् विक्रमादित्य
} शासन-काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्त से छठीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक।

इनमें से पहले छः राजाओं की राजधानी पुष्पपुर

था पटना थी। पर अन्तिम राजा यशोधर्म्मा की राजधानी उज्जैन थी। यह पिछला राजा गुप्त-राजाओं का करद राजा था। पर गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर, यह स्वतन्त्र हो गया था। इन राजाओं में से तीन राजाओं ने— पहले, तीसरे और चौथे ने— विक्रमादित्य की पदवी ग्रहण की थी। ये राजा बड़े प्रतापी थे। इसीसे ये विक्रमादित्य उप-नाम से अभिहित हुए।

परन्तु डाक्टर हार्नले आदि की पूर्वोक्त युक्तियों के आविष्कार-विषय में एक झगड़ा है। बाबू बी० सी० मजुमदार कहते हैं कि इसका यश मुझे मिलना चाहिये। इस विषय में उनका एक लेख जून १९११ के माडर्न-रिव्यू में निकला है। उसमें वे कहते हैं कि १९०५ ईसवी में मैंने इन बातों को सब से पहले ढूँढ़ निकाला था। बँगला के भारत-सुहृद् नामक पत्र में "शीत-प्रभाते" नामक जो मेरी कविता प्रकाशित हुई है उसमें सूत्र रूप से मैंने ये बातें छः – सात वर्ष पहले ही लिख दी थीं। १९०९ में इस विषय में मेरा जो लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में निकल चुका है उसमें इन बातों का विचार मैंने किया है। अब इनका मत सुनिये—

डाक्टर हार्नले की राय है कि उज्जैन का राजा यशोधर्म्मा ही शकारि-विक्रमादित्य है और उसीके शासन-काल,

या इसीकी सभा में कालिदास थे। कारण यह कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही न था। जैसी कविता कालिदास की है वैसी कविता— वैसी भाषा, वैसी भावभङ्गी— उस ज़माने में थी ही नहीं। ईसा की पाँचवीं और छठी सदी में, संस्कृत भाषा का पुनरुज्जीवन होने पर, वैसी कविता का प्रादुर्भाव हुआ था। इन सब बातों को मजूमदार महाशय मानते हैं। पर यशोधर्म्मा के समय में कालिदास का होना नहीं मानते। वे कहते हैं कि रघु-वंश में जो इन्दुमती का स्वयंवर-वर्णन है उसमें उज्जैन के राजा का तीसरा नम्बर है। यदि कालिदास यशोधर्म्मा के समय में या उसकी सभा में होते तो वे ऐसा कभी न लिखते। क्योंकि यशोधर्म्मा उस समय चक्रवर्ती राजा था। मगध का साम्राज्य उस समय प्रायः विनष्ट हो चुका था। यशोधर्म्मा मगध की अधीनता में न था। अतएव मगधाधिप के पास पहले और उज्जैन-नरेश के पास उसके बाद इन्दुमती का जाना यशोधर्म्मा को असह्य हो जाता। अतएव इस राजा के समय में कालिदास न थे। फिर किसके समय में थे? बाबू साहिब का अनुमान है कि कुमार-गुप्त के शासन के अन्तिम भाग में उन्होंने ग्रन्थ-रचना आरम्भ की और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के कुछ समय पहले इस लोक की यात्रा समाप्त की। ...अनुमान की पुष्टि में उन्होंने और भी कई बातें लिखी हैं।

आपका कहना है कि रघुवंश में जो रघु का दिग्विजय है वह रघु का नहीं, यथार्थ में वह स्कन्दगुप्त का दिग्विजय-वर्णन है। आपने रघुवंश में गुप्तवंश के प्रायः सभी प्रसिद्ध राजाओं के नाम ढूँढ निकाले हैं। यहाँ तक कि कुमारगुप्त को खुश करने ही के लिये कालिदास के द्वारा कुमारसम्भव की रचना का अनुमान आपने किया है। इसके सिवा और भी कितनी ही बड़ी विचित्र कल्पनायें आपने की हैं। इनके अनुसार कालिदास ईसा की पाँचवीं सदी में विद्यमान थे।

कुछ समय से साहित्याचार्य रामावतार शर्मा भी इस तरह की पुरानी बातों की खोज में प्रवृत्त हुए हैं। आपने भी इस विषय में अपना मत प्रकाशित किया है। आपकी राय है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त और उसके पुत्र कुमारगुप्त के समय में थे। यह खबर जब मजूमदार बाबू तक पहुँची तब उन्होंने माडर्न-रिव्यू में वह लेख प्रकाशित किया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसमें आप कहते हैं कि कालिदास का स्थितिकाल ढूँढ निकालने का यश जो पाण्डेय जी लेना चाहते हैं वह उन्हें नहीं मिल सकता। उसके पाने का अधिकारी अकेला मैं ही हूँ। क्योंकि इस आविष्कार को मैंने बहुत पहले किया था। इस लेख के लिखने की खबर शायद पाण्डेय जी को पहले ही हो गई। इसीसे इधर जून के माडर्न-रिव्यू में मजूमदार बाबू

का लेख निकला, उधर जून ही के हिन्दुस्तान-रिव्यू में पाण्डेय जी का। पाण्डेय जी कहते हैं कि जो आविष्कार मैंने किया है उसका इङ्गित मुझे स्मिथ साहब और मुग्धानलाचार्य्य से मिला था। उसी इशारे पर मैंने अपने अनुमान की इमारत खड़ी की है। मेरी सारी कल्पनायें और तर्कनायें मेरी निज की हैं। इनके अनुसार कालिदास ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवीं के आरम्भ में थे। श्री राजेन्द्रनाथ विद्याभूषण-प्रणीत कालिदास-नामक समालोचना - ग्रन्थ की भूमिका में श्रीयुत हरिनाथ दे महाशय ने भी पाण्डेय जी का मत लिखा है। उसमें उन्होंने कहा है कि—

(१) तस्मै सभ्याः सभार्य्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः
(२) अन्याश्च गोप्ता गृहिणी-सहायः

इत्यादि रघुवंश के श्लोकों में गोप्ता, गुप्त, गोप्त्रे, आदि पद गुप्तवंशी राजाओं के सूचक हैं। इसके सिवा—

तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी

इस श्लोकार्द्ध में जो उपमा है उससे द्वितीय चन्द्रगुप्त का ध्वनितार्थ निकलता है। रघुवंश में जो रघु का दिग्विजय-वर्णन है उसका आरम्भ इस प्रकार है—

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्-जिगीषया ॥

इसमें भी गुप्त-शब्द गुप्त-वंश का सूचक है। प्रयाग में समुद्र-गुप्त का जो स्तम्भ है उस पर उसके विजय की वार्ता खुदी हुई है। वह रघु के दिग्विजय से बहुत कुछ मिलती है। अर्थात् कालिदास ने रघु के दिग्विजय के बहाने समुद्रगुप्त का दिग्विजय-वर्णन किया है। मजूमदार महाशय ने रघु का दिग्विजय स्कन्दगुप्त का दिग्विजय बताया। इन्होंने उसे समुद्रगुप्त का बताया !! आगे चलकर पाठकों को मालूम होगा कि एक और महाशय ने उसे ही यशोधर्मा का दिग्विजय समझा है !!! कुमारसम्भव के "कुमारकल्पं सुषुवे कुमारं" और "न कारलाद् स्वाद् विभिदे कुमारः"—आदि में जो कुमार शब्द हैं उसे आप लोग कुमारगुप्त का वाचक बतलाते हैं।

पाण्डेय जी की यशःप्राप्ति में बड़ी बाधायें आ रही हैं। डाक्टर एच्० बेक (Beck) तिब्बती और संस्कृत भाषा के बड़े पण्डित हैं। कालिदास के समय-निश्चय के विषय में जिन तत्वों का आविष्कार पाण्डेय जी ने किया है, ठीक उन्हीं का आविष्कार डाक्टर साहब ने भी किया है। परन्तु पण्डितों की राय है कि दोनों महाशयों को एक दूसरे की खोज की कुछ भी ख़बर नहीं थी। दोनों निश्चय या निर्णय यद्यपि मिलते हैं तथापि उनमें परस्पर आधार-आधेय भाव नहीं। यही ठीक भी होगा। क्योंकि विद्वान् जान बूझकर

किसी के यश का हरण नहीं करते। पाण्डेय जी इस समय कालिदास के स्थिति-काल-सम्बन्ध में एक बड़ा ग्रन्थ लिख रहे हैं। कालिदास का भाग्य हज़ारों वर्ष बाद चमका है। इस बीच में कई ग्रन्थ उनके विषय में लिखे गये। और, यह क्रम अब भी जारी है।

अब एक और आविष्कारक के आविष्कृत तत्व सुनिए। कलकत्ते में ए० सी० चैटर्जी, एम्० ए०, बी० एल्० एक वकील हैं। आपकी रचित कालिदास-विषयक, ढाई सौ पृष्ठों की, एक पुस्तक अभी कुछ दिन हुए, प्रकाशित हुई है। पुस्तक अँगरेज़ी में है। उसमें कालिदास से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों का वर्णन और विचार हैं। एक अध्याय उसमें कालिदास के स्थिति समय पर भी है। चैटर्जी महोदय का भी मत है कि कालिदास मालव-नरेश यशोधर्मा के शासनकाल, अर्थात् ईसा की छठी सदी, में वर्तमान थे। इन्होंने भी बहुत सी पूर्वोल्लिखित कल्पनाओं के आधार पर ही यह निर्णय किया है। पर इनकी एक कल्पना बिलकुल ही नई है। उसे भी थोड़े में सुन लीजिये—

बड़े बड़े पण्डितों का मत है कि कपिल के सांख्य-प्रवचन-सूत्र सब से पुराने नहीं। किसीने पीछे से उन्हें बनाया है। ईश्वर-कृष्ण की सांख्य-कारिकायें ही सांख्य-शास्त्र का सब से पुराना ग्रन्थ है। और, ईश्वर-कृष्ण ईसा

के छठें शतक के पहले के नहीं। कालिदास ने कुमारसम्भव में जो लिखा है—

> त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
> तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥

यह सांख्य-शास्त्र का सारांश है। जान पड़ता है कि इसे कालिदास ने ईश्वर-कृष्ण के ग्रन्थ को अच्छी तरह देखने के बाद लिखा है। दोनों की भाषा में भी समानता है और सांख्यतत्व-निदर्शन में भी। इस बात की पुष्टि में पीटर्सो महाशय ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का एक पद्य, और रघुवंश तथा कुमारसम्भव में व्यवहृत "संघात" शब्द भी दिया है। आपकी राय है कि संघात शब्द भी कालिदास को ईश्वर-कृष्ण ही के ग्रन्थ से मिला है। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि ईसा के छठे ही शतक में ईश्वर-कृष्ण भी हुए और कालिदास भी। फिर किस तरह अपने समकालीन पण्डित की पुस्तक का परिशीलन करके कालिदास ने उसके तत्व अपने काव्यों में निहित किये? क्या मालूम, ईश्वरकृष्ण छठी सदी में कब हुए और कहाँ हुए? यदि यह मान भी लिया जाय कि कालिदास छठी ही सदी में थे तो भी इसका क्या प्रमाण कि वे ईश्वर-कृष्ण से दस बीस-वर्ष पहले ही लोकान्तरित नहीं हुए? इसका भी क्या प्रमाण कि ईश्वर-कृष्ण की कारिकाओं के पहले सांख्य का और कोई ग्रन्थ

विद्यमान न था ? सम्भव है, कालिदासके समय में रहा हो और पीछे से नष्ट हो गया हो। कुछ भी हो, चैटर्जी महाशय की सबसे नवीन और मनोरञ्जक कल्पना यही है। आपकी राय में रघुवंश और कुमारसम्भव ५८३ ईसवी के पहले के नहीं।

चैटर्जी महोदय ने अपने मत को और भी कई बातों के आधार पर निश्चित किया है। कालिदास के काव्यों में ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी जो उल्लेख हैं उनसे भी आपने अपने मत की पुष्टि की है। कवि-कुल-गुरु शैव थे, अथवा यों कहना चाहिये कि उनके ग्रन्थों में शिवोपासना द्योतक पद्य हैं। ऐतिहासिक खोजों से आपने यह सिद्ध किया है कि इस उपासना का प्राबल्य, बौद्धमत का ह्रास होने पर छठी सदी में ही हुआ था। यह बात भी आपने अपने मत की पुष्ट करनेवाली समझी है। आपकी सम्मति है कि रघु का दिग्विजय काल्पनिक है। यथार्थ में रघु-सम्बन्धिनी सारी बातें यशोधर्म्मा विक्रमादित्य से ही सम्बन्ध रखती हैं। रघुवंश के—

(१) प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः।
(२) ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्॥
(३) सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।
(४) यशोभरद्नोत्कीर्णं व्यक्तविक्रमलक्षणम्॥

इत्यादि और भी कितने ही श्लोकों में जो रवि, भानु, और भास्वान् आदि शब्द आये हैं उनसे आपने विक्रमादित्य के आदित्य का अर्थ लिया है और जहाँ 'विक्रम' और 'प्रताप' आदि शब्द आये हैं वहाँ उनसे 'विक्रम' का। इस तरह आपने सिद्ध किया है कि यशोधर्म्मा विक्रमादित्य को ही लक्ष्य करके कालिदास ने इन श्लिष्ट श्लोकों की रचना की है। अतएव वे उसीके समय में थे। उस ज़माने का इतिहास और कालिदास के ग्रन्थों की अन्तर्वर्ती विशेषतायें इस मत को पुष्ट करती हैं। यही चैटर्जी महाशय की गवेषणा का सारांश है। इन विद्वानों की राय में विक्रमादित्य कोई नाम-विशेष नहीं, वह एक उपाधि-मात्र थी।

अश्वघोष के बुद्ध-चरित और कालिदास के काव्यों में जो समानता पाई जाती है उसके विषय में चैटर्जी महाशय का मत है कि दोनों कवियों के विचार लड़ गये हैं। अश्वघोष ने कालिदास के काव्यों को देखने के अनन्तर अपना ग्रन्थ नहीं बनाया। दो कवियों के विचारों का लड़ जाना सम्भव है, पर क्या यह भी सम्भव है कि एक के काव्य के पद के पद, यहाँ तक कि प्रायः श्लोकार्द्ध, तद्वत् दूसरे के दिमाग से निकल पड़ें? अस्तु, इन बातों का निर्णय विद्वान् ही कर सकते हैं। हमें तो जो कुछ इस विषय में कहना था वह हम पहले ही कह चुके हैं।

अच्छा, यह तो सब हुआ। पर एक बात हमारी समझ में नहीं आई। यदि कालिदास को चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त या और किसी गुप्त-नरेश किंवा यशोधर्म्मा का कीर्ति-गान अभीष्ट था तो उन्होंने साफ़ साफ़ वैसा क्यों न किया? क्यों न एक अलग ग्रन्थ में उनकी स्तुति की? अथवा क्यों न उनका चरित या वंश-वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया? गुप्त, स्कन्द, कुमार, समुद्र, चन्द्रमा, विक्रम और प्रताप आदि शब्दों का प्रयोग करके छिपे छिपे क्यों उन्होंने गुप्त-वंश का वर्णन किया? इस विषय में बहुत कुछ कहने को जगह है, पर इस लेख में नहीं।

जैसा ऊपर एक जगह लिखा जा चुका है, पुरातत्व के अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व भारत में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही न था। उसके नाम से जो संवत् प्रचलित है वह पहले मालव-संवत् कहलाता था। पीछे से उसका नाम विक्रम-संवत् हुआ।

सारांश यह कि कालिदास विक्रमादित्य के सभा-पण्डित ज़रूर थे। पर दो हज़ार वर्ष के पुराने काल्पनिक विक्रमादित्य के सभा-पण्डित न थे। ईसा के पाँच-छः सौ वर्ष बाद मालवे में जो विक्रमादित्य हुआ—चाहे वह यशोधर्म्मा हो चाहे और कोई—उसीके यहाँ वे थे। पर प्रसिद्ध विद्वान् चिन्तामणिराव वैद्य, एम० ए०, एल्-एल्० बी० ने

विक्रम-संवत् पर एक बड़ा ही गवेषणा पूर्ण लेख लिखकर इन बातों का खण्डन किया है। उन्होंने ईसा के पहले एक विक्रमादित्य के अस्तित्व का ग्रन्थ-लिखित प्रमाण भी दिया है और यह भी सिद्ध किया है कि इस नाम का संवत् उसी प्राचीन विक्रमादित्य का चलाया हुआ है। वैद्य महाशय के लेख का सारांश आगे देखिये।

अगस्त १९११।

[२]

हमारे समान इतर साधारण जनों का विश्वास है कि प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य मालव-देश के अधीश्वर थे। धारा-नगरी उनकी राजधानी थी। विद्वानों और कवियों के वे बड़े भारी आश्रयदाता थे। स्वयं भी कवि थे। शकों, अर्थात् सीदियन ग्रीक लोगों को उन्होंने बहुत बड़ी हार दी थी। इससे वे शकारि कहलाते हैं। इसी जीत के उपरान्त में उन्होंने अपना संवत् चलाया जिसे कुछ कम दो हज़ार वर्ष हुए। इस हिसाब से विक्रमादित्य का समय ईसा के ५७ वर्ष पहले सिद्ध होता है।

परन्तु इस परम्परा-प्राप्त जनश्रुति या विश्वास को कितने ही पुरातत्त्वज्ञ विश्वसनीय नहीं समझते। फ्लीट, हार्नले, कीलहार्न, बूलर और फर्गुसन आदि विदेशी और

डाक्टर भाण्डारकर, भाऊ दाजी आदि स्वदेशी विद्वान्
विद्या-विशारदों की कक्षा के अन्तर्गत हैं। इस अधि
नीयता का कारण सुनिये—

डाक्टर कीलहार्न के मन में, नाना कारणों से, विक्रम-
के विषय में एक कल्पना उत्पन्न हुई। इस बात को क
हुए। उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा। यह "इं
ऐण्टिक्वेरी" के कई अङ्कों में लगातार प्रकाशित हुआ।
उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इस संवत् का
नाम इस समय है वह आरम्भ में न था। पहले यह मा
संवत् के नाम से उल्लिखित होता था। अनेक शिला -
और ताम्र-पत्रों के आधार पर उन्होंने यह दिखाया कि
के सातवें शतक के पहले, लेखों और पत्रों में, इस संवत्
नाम मालव-संवत् पाया जाता है। उनमें अङ्कित "मालव
गणस्थित्या" पद का अर्थ उन्होंने लगाया— मालव-देश
गणना का क्रम। और यह अर्थ ठीक भी है। कील
की इस गवेषणा का निष्कर्ष निकला कि सातवें शतक के
विक्रम-संवत् का नाम मिलता है, उसके पहले नहीं। पर
तो यही "मालवानां गणस्थित्या" की दुहाई गय कहाँ है
अच्छा तो इस मालव संवत् का नाम विक्रम-संवत् किस

धर्म्मा नाम का एक प्रतापी राजा मालवे में राज्य करता था। उसका दूसरा नाम हर्षवर्धन भी था। उसने ५४४ ईसवी में हूणों के राजा मिहिरकुल को मुलतान के पास करूर में परास्त करके, हूणों का बिलकुल ही तहस-नहस कर डाला। उसने उनके प्रभुत्व और बल का प्रायः समूल उन्मूलन कर दिया। इस जीत के कारण उसने विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की। तबसे उसका नाम हुआ हर्षवर्धन विक्रमादित्य। इसी जीत की खुशी में उसने पुराने प्रचलित मालव-संवत् का नाम बदलकर अपनी उपाधि के अनुसार उसे विक्रम-संवत् कहे जाने की घोषणा दी। साथही उसने एक बात और भी की। उसने कहा, इस संवत् को ६०० वर्ष का पुराना मान लेना चाहिये, क्योंकि नये किंवा दो-तीन सौ वर्ष के पुराने संवत् का उतना आदर न होगा। इसलिए उसने ५४४ में ५६ जोड़कर ६०० किये। इस तरह उसने इस विक्रम-संवत् की उत्पत्ति, ईसा के ५६ या ५७ वर्ष पहले, मान लेने की आज्ञा लोगों को दी।

इसी कल्पना के आधार पर विक्रमादित्य ईसा की छठी शताब्दी में हुए माने जाने लगे और उनके साथ महाकवि कालिदास भी खिंचकर ६०० वर्ष इधर आ पड़े। इस कल्पना के सम्बन्ध में आज तक अनेक लेख लिखे गये हैं। कोई इसे ठीक मानता है, कोई नहीं मानता। कोई इसके कुछ अंश को

ठीक समझता है, कोई कुछ को। डाक्टर कीलहार्न तो इस कल्पना के जनक ही ठहरे। डाक्टर हार्नले भी इसे मानते हैं। विन्सेंट स्मिथ साहब और डाक्टर भाण्डारकर कहते हैं कि मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् में बदला ज़रूर गया, पर बदलनेवाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त, प्रथम, था। डाक्टर फ्लीट का मत है कि विक्रम-संवत् का चलानेवाला राजा कनिष्क था। इसी तरह ये विद्वान् अपनी अपनी हाँकते हैं। एकमत होकर सबने किसी एक कल्पना को निर्भ्रान्त नहीं माना और न इस बात के माने जाने के अब तक कोई लक्षण ही देख पड़ते हैं।

राय-बहादुर सी० वी० वैद्य, एम० ए०, एल्-एल्० बी०, ने इस विषय में एक बहुत ही युक्ति-पूर्ण लेख लिखा है। उनका लेख प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। उन्होंने पूर्वोक्त कल्पनाओं को निःसार सिद्ध करके यह दिखाया है कि विक्रमादित्य नाम का एक राजा, ईसा के ५७ वर्ष पहले, ज़रूर था। उसने अपने नाम से यह संवत् चलाया। हमने इस विषय के जितने लेख पढ़े हैं सब में वैद्य महाशय का लेख हमें अधिक मनोनीत हुआ और अधिक प्रमाण तथा युक्ति-पूर्ण भी मालूम हुआ। अतएव उनके कथन का सारांश हम नीचे देते हैं—

इस संवत् के सम्बन्ध में जितने वाद, विवाद और

प्रतिपाद हुए हैं, सब का कारण डाक्टर कीलहार्न का पूर्वोक्त लेख है। यदि वे यह साबित करने की चेष्टा न करते कि मालव-संवत् का नाम पीछे से विक्रम-संवत् हो गया तो पुरातत्ववेत्ता इस बात की खोज के लिए आकाश-पाताल एक न कर देते कि इस संवत्सर का नाम किसने बदला, क्यों बदला और कब बदला ? जिन लेखों और पत्रों के आधार पर डाक्टर साहब ने पूर्वोक्त कल्पना की है उनके अस्तित्व और प्रामाणिकत्व के विषय में किसीको कुछ सन्देह नहीं। सन्देह इस बात पर है कि पुराने ज़माने के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में "मालवानां गणस्थित्या" होने से ही क्या यह सिद्ध माना जा सकता है कि इस संवत् का कोई और नाम न था ? इसका कोई प्रमाण नहीं कि जिस समय के ये लेख और पत्र हैं उस समय के कोई और ऐसे लेख या पत्र कहीं छिपे हुए नहीं पड़े, जिनमें यही संवत् विक्रम-संवत् के नाम से उल्लिखित हो। इस देश की सारी पृथ्वी तो छान डाली गई नहीं और न सारे पुराने मकान, मन्दिर, खँडहर आदि ही ढूँढ डाले गये। इस संवत् के प्रचारक मालव-देशवासी हो सकते हैं। पर इससे क्या यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मालवे के किसी एक मनुष्य ने, किसी घटना विशेष के उपलक्ष्य में, यह संवत् नहीं चलाया ? यह कोई असम्भव बात तो मालूम होती नहीं, देश-वासियों के नाम से प्रसिद्ध

हुआ, संवत् भी किसी पुरुष-विशेष के द्वारा, किसी बहुत बड़े काम की यादगार में, चलाया जा सकता है। रोमन-संवत् रोम-निवासियों के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वह रोम-नगर की नींव डालने की घटना-विशेष की यादगार में चलाया गया था। इसी तरह मालव-संवत् का भी चलाया जाना, किसी एक मनुष्य के द्वारा, किसी विशेष घटना के कारण, सर्वथा सम्भव है। मालवे में मालव लोग बहुत पुराने ज़माने से रहते थे। गौतम बुद्ध के समय से ही उन-का नाम-निर्देश साफ़ तौर पर किया गया पाया जाता है। पर उस ज़माने में मालव-संवत् का प्रचार न था। उसका अ-स्तित्व ही न था। इस संवत्सर की उत्पत्ति ईसा के ५७ वर्ष पहले हुई मानी जाती है। इससे यह देखना चाहिए कि उस समय मालवे में कोई बहुत बड़ी घटना हुई थी या नहीं और विक्रमादित्य नाम का कोई राजा वहाँ था या नहीं।

जिन ताम्रपत्रों के आधार पर डाक्टर कीलहार्न ने अपनी कल्पना का मन्दिर खड़ा किया है उनमें से एक बहुत पुराने पत्र में 'मालवेश' शब्द आया है। यह शब्द इसी मालव-संवत् के सम्बन्ध में है। इससे यह सूचित है कि इसमें यद्यपि संवत्सर के प्रवर्तक राजा का नाम नहीं, तथापि यह संवत् किसी राजा का चलाया हुआ ज़रूर है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस ताम्रपत्र के खोदने और खुदवाने

'घाले को उस राजाका नाम न मालूम था। जैसे शक-संवत् का प्रयोग करनेवाले उसके प्रवर्तक का नाम सदा नहीं देते वैसे ही, जान पड़ता है, इस संवत् के प्रवर्तक का नाम इन पुराने शिला-लेखों और ताम्रपत्रों में नहीं दिया गया, केवल मालव-संवत् या मालवेश-संवत् दिया गया है। पर इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि इसका प्रवर्तक कोई राजा या पुरुष-विशेष न था? मालव-निवासियों के एक देश या स्थान को छोड़कर अन्य देश या स्थान में आ बसने की किसी घटना का कुछ पता नहीं। न उनके किसी प्रसिद्ध नगर या इमारत बनाने की किसी घटना का कोई उल्लेख है। न उनके द्वारा की गई किसी और ही बहुत बड़ी बात का कोई प्रमाण है। फिर मालव-निवासियों के द्वारा इस संवत् का चलाया जाना क्यों माना जाय? इसका प्रवर्तक क्यों न कोई राजा माना जाय? 'मालवेश' का अर्थ क्या 'मालव-देश के राजा' के सिवा और कुछ हो सकता है?

ज़रा देर के लिए मान लीजिये कि इसका आदिम नाम मालव-संवत् ही था। अच्छा तो इस नाम को बदलकर कोई 'विक्रम-संवत्' करेगा क्यों? कोई भी समझदार आदमी दूसरे की चीज़ का उल्लेख अपने नाम से नहीं करता। किसी विजेता राजा को दूसरे के चलाये संवत् को अपना कहने में क्या कुछ भी लज्जा न मालूम होगी? वह अपना एक नया संवत् सहज

हुआ, संवत् भी किसी पुरुष-विशेष के द्वारा, किसी बहुत बड़े काम की यादगार में, चलाया जा सकता है। रोमन-संवत् रोम-निवासियों के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वह रोम-नगर की नीव डालने की घटना-विशेष की यादगार में चलाया गया था। इसी तरह मालव-संवत् का भी चलाया जाना, किसी एक मनुष्य के द्वारा, किसी विशेष घटना के कारण, सर्वथा सम्भव है। मालवे में मालव लोग बहुत पुराने ज़माने से रहते थे। गौतम बुद्ध के समय से ही उनका नाम-निर्देश साफ़ तौर पर किया गया पाया जाता है। पर उस ज़माने में मालव-संवत् का प्रचार न था। उसका अस्तित्व ही न था। इस संवत्सर की उत्पत्ति ईसा के ५७ वर्ष पहले हुई मानी जाती है। इससे यह देखना चाहिए कि उस समय मालवे में कोई बहुत बड़ी घटना हुई थी या नहीं और विक्रमादित्य नाम का कोई राजा वहाँ था या नहीं।

जिन ताम्रपत्रों के आधार पर डाकृर कीलहार्न ने अपनी कल्पना का मन्दिर खड़ा किया है उनमें से एक बहुत पुराने पत्र में 'मालवेश' शब्द आया है। यह शब्द इसी मालव-संवत् के सम्बन्ध में है। इससे यह सूचित है कि इसमें यद्यपि संवत्सर के प्रवर्तक राजा का नाम नहीं, तथापि यह संवत् किसी राजा का चलाया हुआ ज़रूर है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस ताम्रपत्र के खोदने और

डाक्टर भाण्डारकर कहते हैं कि गुप्तवंशी राजा प्रथम चन्द्रगुप्त ने पहले-पहल अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और उसीने मालव-संवत् का नाम, अपने नामानुसार, बदलकर विक्रम-संवत् कर दिया। परन्तु इस बात पर विश्वास नहीं होता। इसलिए कि गुप्तवंशी राजाओं ने अपना संवत्, प्रथम चन्द्रगुप्त के बहुत पहले ही, चला दिया था। अतएव अपने पूर्वजों के चलाये हुए संवत् का तिरस्कार करके मालव-देश के संवत् को चन्द्रगुप्त क्यों अपने नाम से चलाने लगा? फिर एक बात और भी है। चन्द्रगुप्त के सौ वर्ष पीछे के शासनपत्रों में भी मालव-संवत् का उल्लेख मिलता है। यदि चन्द्रगुप्त उसका नाम बदल देता तो फिर क्यों कोई मालव-संवत् का उल्लेख करता? अतएव इस तरह की कल्पना विश्वास-योग्य नहीं।

यशोधर्म्मा का जो एक शासनपत्र मिला है उसमें उस बेचारे ने न तो कोई संवत् चलाने की बात कही है, न विक्रमादित्य-उपाधि ग्रहण करने ही की बात कही है, और न मालव संवत् का नाम बदलने ही की चर्चा की है। उसने सिर्फ इतनी बात कही है कि मेरे राज्य का विस्तार गुप्त-नरेशों के राज्य-विस्तार से भी अधिक है। वह गुप्त-नरेशों के प्रभुत्व से अपने प्रभुत्व को बहुत अधिक समझता था। इसीलिए उसने इस शासनपत्र द्वारा यह सूचित किया है

अब मेरा राज्य गुप्तों के राज्य से कम नहीं, प्रत्युत अधिक
। अर्थात् अब मैं उनसे भी बड़ा राजा हूँ । यदि उसने
लव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् में बदला होता, तो वह
बात को भी ज़रूर कहता कि गुप्तों की तरह मैंने भी
ना संवत् चलाया है। परन्तु उसने यह कुछ भी नहीं
या। अतएव यह उक्ति, यह तर्कना, यह कल्पना भी
तरह निःसार जान पड़ती है।

यहाँ तक जिन बातों का विचार हुआ उससे यही
ण होता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहले विक्रमादित्य नाम
कोई राजा ज़रूर था। उसीने विक्रम-संवत् चलाया।
मालव-देश का राजा था। इसलिए शुरू शुरू के शिला-
ों और ताम्रपत्रों में यह संवत् मालव-संवत् के नाम से
अभिहित हुआ है। अब यदि उस समय विक्रमादित्य के
स्तित्व का कोई प्रमाण मिल जाय तो उसके विषय में की
बहुत सी शङ्काओं के लिए जगह ही न रहे।

पुरातत्त्ववेत्ता ईसा के पूर्व पहले शतक में किसी
क्रमादित्य का होना मानने में बेतरह सङ्कोच करते हैं।
लिए कि उस समय का न कोई ऐसा सिक्का ही मिला है
समें इस राजा का नाम हो, न कोई शिला-लेख ही मिला
न कोई ताम्रपत्र ही मिला है। परन्तु उनकी यह उक्ति
ही निर्बल है। तत्कालीन प्राचीन इतिहास में इस

राजा के नाम का न मिलना उसके अनस्तित्व का बोधक नहीं माना जा सकता। पुराने ज़माने के सारे ऐतिहासिक लेख प्राप्त हैं कहाँ? यदि वे सब प्राप्त होजाते और उनमें विक्रमादित्य का नाम न मिलता तो ऐसी शङ्का हो सकती थी। पर बात ऐसी नहीं है। विक्रमादित्य का नाम ज़रूर मिलता है। दक्षिण में शातवाहन-वंशीय हाल नामक एक राजा हो गया है। विन्सेंट स्मिथ साहब ने उसका समय ६८ ईसवी निश्चित किया है। इस हाल ने गाथा-सप्तशती नाम की एक पुस्तक, प्राचीन महाराष्ट्री भाषा में, लिखी है। उसके पैंसठवें पद्य का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

इस पद्य में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है—उसके द्वारा एक लाख रुपये दिये जाने का उल्लेख है। इससे इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि हाल-नरेश के पहले विक्रमादित्य नाम का दानशील राजा कोई ज़रूर था। अब इस बात का विचार करना है कि इस राजा ने शकों का पराभव किया था या नहीं? उसका शकारि होना यथार्थ है या अयथार्थ?

डाक्टर हार्नेले और फ़ीलहार्न आदि का ख़याल है कि मुलतान के पास करूर में यशोधर्म्मा ने ही मिहिरकुल को,

५४४ ईसवी में, परास्त किया था। पर इसका कोई प्रमाण नहीं, यह सिर्फ़ इन विद्वानों का सयानी पुलाव है, और कुछ नहीं। इन्होंने अल्बरूनी के लेखों का जो प्रमाण दिया है उससे यह बात कदापि नहीं सिद्ध होती। अल्बरूनी के लेख का पूर्वापर विचार करने से यह मालूम होता है कि उसके मत में पूर्वोक्त करूर का युद्ध ५४४ ईसवी के बहुत पहले हुआ था। अतएव इस बात को मान लेने में कोई बाधा नहीं कि विक्रमादित्य ने ही इस युद्ध में शकों को परास्त किया था। इसी विजय के कारण वह शकारि नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय से और इसी उपलक्ष्य में उसने अपने नाम से विक्रम-संवत् चलाया। यह जीत बहुत बड़ी थी। इसी कारण, इसके अनन्तर शकों और अन्यान्य म्लेच्छों का पराभव करनेवाले राजाओं ने विक्रमादित्य-उपाधि धारण करना अपने लिए गर्व की बात समझी। तबसे विक्रमादित्य एक प्रकार की उपाधि या पदवी हो गई।

कल्हण ने राजतरङ्गिणी में विक्रमादित्य-विषयक बड़ी बड़ी भूलें की हैं। हर्ष-विक्रमादित्य और शकारि विक्रमादित्य, दोनों को गड़बड़ कर दिया है। डाक्टर स्टीन आदि विद्वानों ने इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया है। पुरातत्त्वज्ञ पण्डित कल्हण की इन भूलों को बिना किसी सोच-विचार के भूलें कहते हैं। कल्हण के

वर्णन से स्पष्ट है कि काश्मीर के इतिहास का सम्बन्ध दो विक्रमादित्यों से रहा है। एक मातृगुप्त को भेजनेवाले हर्ष-विक्रमादित्य से, दूसरे प्रतापादित्य के सम्बन्धी शकारि विक्रमादित्य से। इनमें से हर्ष-विक्रमादित्य ईसा की छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में विद्यमान था। रहा शकारि विक्रमादित्य, सो यह हाल की सप्तशती में वर्णन किये गये विक्रमादित्य के सिवा और कोई नहीं हो सकता। ईसा के पूर्व, प्रथम शतक में, शकों का पराभव करनेवाला वही था। इसका एक और प्रमाण लीजिए—

विन्सेंट स्मिथ साहब ने अपने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि शक-जाति के म्लेच्छों ने, ईसा के कोई १५० वर्ष पहले, उत्तर-पश्चिमाञ्चल से इस देश में प्रवेश किया। उनकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा के शकों ने तक्षशिला और मथुरा में अपना अधिकार जमाया और क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिक्कों से इनका पता ईसा के १०० वर्ष पहले तक चलता है। उसके पीछे इनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं लगता। दूसरी शाखावालों ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ को अपने अधिकार में किया। धीरे धीरे इन लोगों ने उज्जैन को भी अपने अधीन कर लिया। इन्हें गुप्तवंशी राजाओं ने हराकर उत्तर की ओर भगा दिया। अच्छा, तो इनके पराभवकर्ता तो गुप्त

'कुष। पहिली' शाखा के शकों का विनाश किसने साधन किया ? क्या बिना किसी के निकाले ही वे इस देश से चले गये ? अपना राज्य— अपना अधिकार— क्या कोई यों ही छोड़ देता है ? उनका पता पीछे के ऐतिहासिक लेखों से चलता क्यों नहीं ? इसका क्या इसके सिवा और कोई उत्तर हो सकता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहिले विक्रमादित्य ही ने उन्हें नष्ट-विनष्ट करके इस देश से निकाल दिया ? इसी विजय के कारण उसको शकारि उपाधि मिली और संवत् भी इसी घटना की याद में उसने चलाया। मुलतान के पास करूरवाला युद्ध इन्हीं तक्षशिला और मथुरा के शकों और विक्रमादित्य के मध्य हुआ था। इसके सिवा इसका अब और क्या प्रमाण चाहिए ?

इस पर भी'आग्रह' कोई यह कहे कि यह सब सही है। पर कोई पुराना शिलालेख लाओ, कोई पुराना सिक्का लाओ, कोई पुराना ताम्रपत्र लाओ, जिसमें विक्रम-संवत् का उल्लेख हो; तब हम आपकी बात मानेंगे, अन्यथा नहीं। खुशी की बात है कि इस तरह का एक प्राचीन लेख भी मिला है। यह पेशावर के पास तख्तेबाही नामक स्थान में प्राप्त हुआ है। इसलिए उसीके नाम से यह प्रसिद्ध है। यह उत्कीर्ण लेख पार्थियन राजा गुडूफर्स के समय का है। यह राजा भारत के उत्तर पश्चिमाञ्चल का स्वामी था। इस लेख

में १०३ का अङ्क है, पर संवत् का नाम नहीं । गुडूफर्स के सिंहासन पर बैठने के छब्बीसवें वर्ष का यह लेख है। डाकृर फ्लीट और मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने अनेक तर्कनाओं और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यह १०३ विक्रम - संवत् ही का सूचक है। राजा गुडूफर्स का नाम यहूदियों की एक पुस्तक में आया है। यह पुस्तक ईसा के तीसरे शतक की लिखी हुई है। इससे, और इस सम्बन्ध के और प्रमाणों से, यह निःसंशय प्रतीत होता है कि विक्रम-संवत् का प्रचार ईसा के तीसरे शतक के पहले भी था और मालवे ही में नहीं, किन्तु पेशावर और काश्मीर तक में उसका व्यवहार होता था। इस पर भी यदि कोई इस संवत् का प्रवर्तक मालवा-धिपति शकारि विक्रमादित्य को न माने और उसकी उत्पत्ति ईसा के छठे शतक में हुई बतलाने की चेष्टा करे तो उसका ऐसा करना हठ और दुराग्रह के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

यदि शकारि-विक्रमादित्य का होना ईसवी सन् के पहले सिद्ध है और यदि उसका तथा कालिदास का सम्बन्ध अखण्ड माना जा सकता है तो कालिदास का अस्तित्व ईसा के ५६ वर्ष पहले क्यों न माना जाय ?

सितम्बर १६११ ।

[४]

नं० (२) लेख में पण्डित रामावतार शर्म्मा के मत का उल्लेख हो चुका है। इस लेख में पाण्डेय जी की उक्तियों का सारांश दिया जाता है।

कालिदास नाम के कई संस्कृत-विद्वान् हो गये हैं। कोई एक हज़ार वर्ष पहले, अपना नाम कालिदास रखने की चाल सी पड़ गई थी। कोई कालिदास का नाम पदवी के तौर पर अपने नाम के पीछे लगाता था, कोई अपना निज का नाम छोड़कर कालिदास ही के नाम से अपने को प्रसिद्ध करता था, कोई अभिनव कालिदास बनता था। राजशेखर नामक एक जैन कवि हो गया है। उसने अपनी सूक्ति-मुक्तावली नामक पुस्तक में तीन कालिदास होने का उल्लेख किया है—

> एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
> शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

नवसाहसाङ्क-चरित के कर्त्ता पद्मगुप्त ने अपना नाम परिमल-कालिदास रक्खा था। वह धाराधिप मुञ्ज का सभा-कवि था। भोज के शासन-समय में भी एक कालिदास हो गया है। ज्योतिर्विदाभरण और [illegible] नामक ज्योतिष ग्रन्थों के कर्त्ताओं का नाम भी कालिदास ही था। रघुवंश आदि काव्यों के कर्त्ता विश्वविश्रुत कालिदास

को लोग दीप-शिखा-कालिदास कहते आये हैं । रघुवंश के छठे सर्ग में एक श्लोक है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इस मनोहर पद्य में जो 'दीप-शिखा' पद है उसी के कारण प्रसिद्ध कालिदास का नाम दीप-शिखा-कालिदास पड़ गया है । किरातार्जुनीय के एक पद्य में 'आतपत्र', शिशुपालवध के एक पद्य में 'घण्टा', और हरविजय के एक पद्य में 'ताल' आ जाने से इन तीनों काव्यों के कर्ता यथा-क्रम आतपत्र-भारवि, घण्टा-माघ और ताल-रत्नाकर कहलाते हैं । इससे यह जान पड़ता है कि प्राचीन कवियों के काव्यों में यदि कोई विशेष सुन्दर शब्द आ जाते थे तो वे उन शब्दों के नाम से पुकारे जाने लगते थे । अस्तु । हमें औरों से मतलब नहीं, मतलब केवल दीप-शिखा-कालिदास से है ।

जिस महाकवि ने रघुवंश की रचना की है उसीने कुमारसम्भव, मेघदूत, शकुन्तला, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र की भी रचना की है । इनके सिवा ऋतुसंहार और शृङ्गार-तिलक आदि और भी कई छोटे छोटे काव्य इसी महाकवि के बनाये मालूम होते हैं । पर इन पिछले काव्यों की रचना रघुवंश आदि पूर्व-निर्दिष्ट काव्यों की रचना के पहले की है ।

कालिदास के ग्रन्थों में, तथा अन्यत्र भी, ऐसी अनेक बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर कालिदास के समय आदि का निरूपण किया जा सकता है। उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) किसी विक्रम नामधारी राजा से इस महाकवि का सम्बन्ध।

(२) उसके द्वारा की गई वाल्मीकि की प्रशंसा। *

(३) रघुवंश में हूण, यवन आदि जातियों का उल्लेख। ×

(४) प्रशस्ति आदि में उसके नाम का पाया जाना।

(५) रघुवंश की आकस्मिक समाप्ति।

(६) भास, धावक, कविपुत्र आदि उसके सम-कालिकों का उसके तथा अन्यों के द्वारा नामोल्लेख।

---

* तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

रघुवंश, सर्ग १४।

× तत्र हूणावरोधानां; यवनीमुखपद्मानां—इत्यादि।

रघुवंश, सर्ग ४।

आजतक कालिदास के समय-सम्बन्ध में विद्वानों ने जिन कल्पनाओं का आश्रय लिया है उनमें से प्रधान प्रधान कल्पनाओं का सम्बन्ध नीचे लिखी घटनाओं से है—

(क) अग्निवर्ण के पुत्र का समय।
(ख) विक्रम-संवत् के आरम्भ का समय।
(ग) स्कन्दगुप्त का समय।
(घ) कोरूर के युद्ध का समय।

इनके सिवा किसी किसी ने ईसा के ग्यारहवें शतक में धाराधिप भोज के यहाँ भी कालिदास के होने की कल्पना की है। पर यह कल्पना बिलकुल ही युक्तिहीन है। इस कल्पना के उद्भावकों को इसकी शायद ख़बर ही न थी कि कालिदास नाम के अनेक कवि हो गये हैं। भोज के समय में यदि कालिदास नाम का कोई कवि रहा हो तो हो सकता है। पर वह रघुवंश आदि का कर्ता नहीं हो सकता। बम्बई के डाक्टर भाऊ दाजी ने मातृगुप्त को ही कालिदास सिद्ध करने की चेष्टा की थी; पर उनकी यह चेष्टा और कल्पना अत्यन्त ही असार है। अतएव उस पर भी कुछ न कहकर पूर्वोक्त कल्पनाओं पर ही विचार किया जाता है।

रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग में राजा अग्निवर्ण का वृत्तान्त है। उसीको लिखकर कालिदास ने रघुवंश की समाप्ति कर दी है। पर समाप्ति-सूचक कोई बात नहीं

ईसवी। कुछ परीक्षकों का ख़याल है कि अ
के समय में ही कालिदास थे। इसीसे
आश्रयदाता के पिता तक ही का वृत्तान्त लिखा
थे ईसवी सन् के कोई ८०० वर्ष पहले विद्य
कल्पना ठीक नहीं। अग्निवर्ण के समय से रघु
की महिमा और प्रभुता बहुत कुछ क्षीण ह
अतएव आगे होनेवाले उपद्रवों और राज्यक्रान्ति
करने की आवश्यकता कालिदास ने न समझी।
राजाओं का वृत्तान्त लिखने से काव्य का विस्ता
बढ़ जाता। एक बात और भी है। यदि कालिद
वर्ण के पुत्र के समय में होते तो वे उस राजा क
हाल अवश्य लिखते। अपने आश्रयदाता अथवा
राजा का वर्णन लिखकर पुस्तक की पूर्ति कर दे
तरह युक्ति-सङ्गत नहीं ज्ञात होता। यह भी तो स
बात है कि अग्निवर्ण के पुत्र के समय में होकर वे
पिता अग्निवर्ण की कामुकता का वर्णन कैसे कर सक
अतएव यह कल्पना ग्राह्य नहीं।

कुछ लोगों की राय है कि कालिदास, विक्रम
के आरम्भ में, महाराज विक्रमादित्य की सभा में थे।
राय ठीक भी है और ठीक भी नहीं है। क्यों ...

इसका सम्बन्ध विक्रम नामक राजा से है वहाँ तक ठीक है। इस पर आगे चलकर हमें बहुत कुछ कहना है।

रघुवंश में हूणों का वर्णन देखकर कुछ परीक्षक पण्डितों ने यह कल्पना की है कि कालिदास, महाराज स्कन्दगुप्त के समय में, अर्थात् ईसवी सन के पांचवें शतक के अन्त में, विद्यमान थे। पर भारतीय ग्रन्थकारों ने हूण, यवन, शक आदि शब्दों का प्रयोग जातिवाचक अर्थों में किया है। अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कालिदास के हूण वही इतिहास-प्रसिद्ध हूण थे जिन्होंने ४५८ ईसवी में भारत पर चढ़ाई की थी। बहुत सम्भव है, उसके पहले भी उनका नाम भारतवासियों को ज्ञात रहा हो। क्योंकि लूटपाट करने के लिए वे लोग इस देश की सीमा के भीतर ज़रूर घुस आते रहे होंगे।

किसी किसी इतिहास-लेखक की राय है कि उज्जैन के किसी विक्रम-नामधारी राजा ने कोरूर की लड़ाई में म्लेच्छों को परास्त किया था। यह लड़ाई ईसवी सन् के छठे शतक के मध्य भाग में हुई थी। विन्सेंट स्मिथ साहब ने अपने भारतवर्षीय इतिहास में लिखा है कि मध्यभारत में यशोधर्म्मा नाम का एक राजा था। मगध-नरेश बालादित्य की सहायता से उसीने मिहिरगुल नामक म्लेच्छ-राजा को हराया था। यद्यपि यह घटना कोरूर-युद्ध के बहुत पहले

की है तथापि कुछ लेखकों ने यशोधर्म्मा को विक्रमादित्य समझ लिया और यह कल्पना कर ली कि मालव-संवत् को उसीने, अपनी जीत के उपलक्ष्य में, अपने नाम के अनुसार परिवर्तित करके, उसका नाम विक्रम-संवत् कर दिया। यही नहीं, उन लोगों ने यह भी कल्पना कर ली कि संस्कृत-साहित्य का पुनरुज्जीवन भी यशोधर्म्मा ही के समय में हुआ और कालिदास भी उसीकी सभा के सभासद थे। इस कल्पना की उद्भावना का एक कारण यह भी हुआ कि—"धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकुः"—इत्यादि नवरत्न-सम्बन्धी श्लोक में कालिदास के साथ वराहमिहिर का भी नाम है। और, वराहमिहिर का समय सन् ईसवी के छठे शतक का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इसीसे परीक्षा-प्रवृत्त पण्डितों ने यह सिद्धान्त निकाला कि जब वराहमिहिर यशोधर्म्मा के समय में थे तब कालिदास भी ज़रूर ही रहे होंगे। क्योंकि ये दोनों विक्रम की नवरत्न-मालिका के अन्तर्गत थे। परन्तु नवरत्न-सम्बन्धी इस श्लोक में उतना ही सत्यांश है जितना कि भीम-प्रबन्ध के उन लेखों में जिनमें भवभूति, भारवि, माघ और कालिदास सब समकालीन माने गये हैं। अतएव यह कल्पना भी झूठी है। अच्छा तो फिर कालिदास थे कब? सुनिए।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास किसी विक्रम-

नामधारी, राजा की सभा के सभासद थे। अपने रूपकों में से एक का नाम विक्रमोर्वशीय रखना और उसकी प्रस्तावना में यह लिखना कि—"अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः"—इस बात की पुष्टि करता है कि राजा विक्रम से कालिदास का कुछ सम्बन्ध अवश्य था। जनश्रुति भी यही कहती है। रामचरित नामक काव्य का—

ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।

इत्यादि श्लोक भी इसकी पुष्टि करता है। अतएव जबतक इस कल्पना के विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले तबतक इसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं।

अच्छा तो अब यह देखना है कि किस विक्रम के समय में कालिदास विद्यमान थे। ईसा के पहले शतक में विक्रम नाम का कोई ऐतिहासिक राजा नहीं हुआ। उसके नाम से जो संवत् चलता है वह पहले मालवगणस्थित्यात् * कहलाता था। महाराज यशोधर्मा के बहुत काल पीछे उसका नाम विक्रम-संवत् हुआ। वृत्तरत्नमहोदधि के कर्त्ता वर्द्धमान पहले ग्रन्थकार हैं जिन्होंने विक्रम-संवत् का उल्लेख किया है। यथा—

---

* मन्दसौर में एक ४९६ संवत् का पुराना लेख है। इसमें लिखा है—

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये—इत्यादि।

सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु ।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः ॥

इसका पता नहीं चलता कि कब और किसने मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् कर दिया। सम्भव है, यह परिवर्तन भ्रम से हुआ हो। मालवगणस्थित्याब्द एक तो बहुत लम्बा नाम है, फिर कर्णमधुर भी नहीं। इसीसे किसीने कथासरित्सागर के नायक कल्पित विक्रमादित्य को मालवेश्वर समझ कर उसीके नाम से इस संवत् को प्रसिद्ध कर दिया होगा।

अच्छा, तो अब कालिदास के विक्रम का पता लगाना चाहिए। कालिदास शुङ्ग राजाओं से परिचित थे। वे फलित-ज्योतिष भी जानते थे और गणित-ज्योतिष भी। मेघदूत में उन्होंने बृहत्कथा की कथाओं का उल्लेख किया है।

सीमाप्रान्त की हूण आदि जातियों का भी उन्हें ज्ञान था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में, पाणिनि के प्रतिकूल, कुछ व्याकरण-प्रयोग जान-बूझकर ऐसे किये हैं जो बहुत कम प्रयुक्त होते हैं। इन कारणों से हम कालिदास को ईसवी सन का पूर्ववर्ती नहीं मान सकते। वे उसके बाद हुए हैं। पतञ्जलि ईसा के पूर्व दूसरे शतक में थे। उनके बाद पाली की पुत्री प्राकृत ने कितने ही रूप धारण किये। वह यहाँ तक प्रबल हो उठी कि कुछ समय तक उसने संस्कृत को प्रायः दबा सा दिया। अतएव जिस काल में

प्राकृत का इतना प्राबल्य था उस काल में कालिदास ऐसे संस्कृत-कवि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। फिर, पैशाची-भाषा में लिखी हुई गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा की कथाओं से कालिदास का परिचित होना भी यह सूचित कर रहा है कि वे गुणाढ्य के बाद हुए हैं, प्राकृत के प्राबल्य-काल में नहीं। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष-सम्बन्धिनी जो बातें लिखी हैं उनसे वे आर्यभट्ट और वराहमिहिर के समकालीन ही से जान पड़ते हैं। या तो उन्होंने ज्योतिष का ज्ञान इन्हीं दोनों ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से प्राप्त किया होगा या ठीक इनके पूर्ववर्ती ज्योतिषियों के ग्रन्थों से। इससे सूचित होता है कि कालिदास ईसवी सन के तीसरे शतक के पहले के नहीं। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि वे ईसवी सन के पाँचवें शतक के बाद के भी नहीं। क्योंकि सातवें शतक के कवि बाणभट्ट ने हर्ष-चरित में कालिदास का नामोल्लेख किया है। दूसरे पुलकेशी की प्रशस्ति में रविकीर्ति ने भी भारवि के साथ कालिदास का नाम लिखा है। यह प्रशस्ति भी सातवें शतक की है। इस प्रशस्ति के समय भारवि को हुए कम से कम सौ वर्ष ज़रूर हो चुके होंगे। क्योंकि किसी प्रसिद्ध राजा की प्रशस्ति में उसी कवि का नाम लिखा जा सकता है जो स्वयं भी खूब प्रसिद्ध हो। और प्राचीन समय में किसी की कीर्ति

व्याकरण-विषयक आज्ञा सर्वमान्य हो चुकी थी। अतएव उसका किसीने उल्लंघन नहीं किया। पर कालिदास के समय में यह बात न थी। तब पाणिनि के किसी किसी नियम का पालन न भी किया जाता था। इसीसे कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में पाणिनि की आज्ञा के प्रतिकूल प्रयोग पाये जाते हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास, भारवि और सुबन्धु के पहले के हैं।

कालिदास के ग्रन्थों का आकलन करने से ज्ञात होता है कि उनका ज्योतिष-विद्या-विषयक ज्ञान गहन न था। अतएव वे आर्य्यभट्ट के बाद के नहीं हो सकते। वराह-मिहिर के वे समकालीन भी नहीं हो सकते। क्योंकि इस समकालीनता का सूचक एक-मात्र नवरत्न-वाला पद्य है, जो प्रमाण योग्य नहीं। यह पद्य ज्योतिर्विदाभरण का है। इस पुस्तक की रचना किसी अर्वाचीन जैन-पण्डित की जान पड़ती है। इसकी संस्कृत महा अशुद्ध है। इसका पूर्वोक्त श्लोक कदापि विश्वसनीय नहीं।

कालिदास यद्यपि उज्जयिनी-नरेश की सभा के सदस्य थे तथापि उज्जयिनी उनकी जन्मभूमि नहीं कही जा सकती। कालिदास को ग्रीष्म-ऋतु से सविशेष प्रेम था। उन्होंने अपने काव्यों में इस ऋतु का वर्णन कई जगह किया है। हिमालय-प्रदेश के दृश्यों से भी उनका अधिक परिचय था। जहाँ कहीं उनका वर्णन उन्होंने किया

अवन्ती का भी। अच्छा तो ईसवी सन् के चौथे शतक के अन्त में ऐसा कोई राजा था भी? ज़रूर था। उसका नाम पता था? उसका नाम था द्वितीय चन्द्रगुप्त। इतिहास-वेत्ताओं ने लिखा है कि मगध के सिंहासन पर उस समय यही राजा विराजमान था और इसीने अवन्ती को जीतकर उसे भी अपने राज्य में मिला लिया था। अतएव, सिद्ध हुआ कि इसी राजा के आश्रय में कालिदास थे।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में कितनी ही बातें कही जा सकती हैं। रघुवंश के छठे सर्ग में इन्दुमती जब मगधाधिप और अवन्तिनाथ के सामने हुई तब यद्यपि उसने उनमें से एक को भी पसन्द न किया तथापि वह उनसे बड़ी ही श्रद्धा और भक्ति से पेश आई। न उनके सामने उसने कोई अनादर-सूचक चेष्टा ही की, न कोई आक्षेपयोग्य बात ही कही। परन्तु और राजाओं का उल्लंघन, घृणा और तिरस्कार-पूर्वक, करके वह आगे बढ़ती गई। इससे सूचित होता है कि कालिदास को मगध और अवन्ती के राजा का आदर मंजूर था। जिस समय रघुवंश का पूर्वार्द्ध लिखा गया उस समय रुद्रदामा का विजेता मगधाधिप द्वितीय चन्द्रगुप्त बूढ़ा हो चला था। कालिदास ने स्वयंवर में आये मगध-नरेश का नाम परन्तप लिखा है। उसे इन्दुमती पसन्द न किया। कालिदास के इस लेख की विशेष परवा

चन्द्रगुप्त ने, बूढ़े होने के कारण, न की होगी। पर यदि परन्तप के विषय में कालिदास कोई अनुचित बात लिख देते तो वह चन्द्रगुप्त को अवश्य असह्य होती। इसीसे उन्होंने ऐसा नहीं किया।

रघुवंश के छठे सर्ग में मगधाधिप परन्तप का वर्णन करते समय कालिदास ने लिखा है—

ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः

इसके आगे अवन्ति-नरेश के वर्णन में उन्होंने कहा है—

इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै

इन श्लोकों में 'चन्द्रमस' और 'इन्दु' शब्दों का प्रयोग करके तो कालिदास ने चन्द्रगुप्त से अपना सम्बन्ध साफ़ ही प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार का साङ्केतिक वर्णन विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में भी किया है। यथा—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥

यहाँ पर भी 'चन्द्रमसं' पद से मौर्य्य चन्द्रगुप्त का अर्थ ध्वनित किया गया है। कालिदास ने भी पूर्वोक्त श्लोकों

के 'चन्द्रमस' और 'इन्दु' शब्दों में द्वितीय चन्द्रगुप्त की ध्वनि निहित कर दी है।

इस सिद्धान्त के पुष्टीकरण में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। दिलीप और रघु का चरित, जैसा कि कालिदास ने चित्रित किया है, विलक्षणता से खाली नहीं। चन्द्रगुप्त से कालिदास का सम्बन्ध मान लेने से इस विलक्षणता का कारण भी समझ में आ जाता है। प्र
पुराण-कथाओं में यह कहीं नहीं लिखा कि दिली
अश्वमेध-यज्ञ किया था। रघु के दिग्विजय का उ
भी उनमें नहीं। यदि हम यह मान लेते हैं कि कालिदा
द्वितीय चन्द्रगुप्त के चरित को आदर्श मानकर रघु
चरित चित्रित किया है तो दिलीप और रघु के विष
जो नई नई बातें उन्होंने कही हैं उनका आशय तत्का
ध्यान में आ जाता है। रघुवंश में जिन राजाओं का वृत्त
है उनमें रघु और राम ही श्रेष्ठ हैं। रामचन्द्र का चरित
इतना विश्रुत है कि उसको आदर्श मानकर अपने आश्र
दाता द्वितीय चन्द्रगुप्त के चरित का चित्रण करना कालिद
ने मुनासिब नहीं समझा। इसीसे उन्होंने रघु को चन्
गुप्त का प्रतिनिधि बनाया।

कालिदास के आश्रयदाता द्वितीय चन्द्रगुप्त के पि
का नाम समुद्रगुप्त था। इस समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-य

किया था। बस, इसीसे कालिदास ने रघु के पिता दिलीप से भी अश्वमेध-यज्ञ करा डाला। यह सिर्फ इसलिए कि पिता पुत्र का सम्बन्ध ठीक हो जाय। चन्द्रगुप्त हुआ रघु और समुद्रगुप्त हुआ दिलीप। और देखिए। द्वितीय चन्द्रगुप्त की माँ बहुत करके किसी मगधदेशीय राजा की कन्या थी। इसीसे रघु की माँ भी मागधी बताई गई। चन्द्रगुप्त की माता का नाम था दत्तादेवी और रघु की माता का था सुदक्षिणा। ये 'दत्ता' और 'दक्षिणा' शब्द भी समानार्थवाची हैं। चन्द्रगुप्त का विजयी होना इतिहास-प्रसिद्ध है। इसीसे रघु से भी कालिदास ने दिग्विजय कराया। फाहियान नामक चीन-देशीय यात्री ने गुप्त-साम्राज्य के प्रथम भाग में भारत-पर्य्यटन किया था। उसने लिखा है कि इस राज्य में चोरों का कहीं नामो-निशान भी नहीं। कालिदास ने दिलीप और रघु के शासन-समय के वर्णन में भी यही बात लिखी है—

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ?

कालिदास ने रघुवंश में अपने वर्णन किये गये राजाओं के लिए गोप्तृ शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। यह शब्द और कवियों ने बहुत ही कम लिखा है। अब देखिए, जिस धातु से गोप्तृ शब्द बना है उसी से गुप्त भी

रघु को चन्द्रगुप्त का प्रतिनिधि माने बिना प्रश्न, और किसी तरह, हल नहीं हो सकता।

जान पड़ता है, कालिदास की मृत्यु, बूढ़े होने पर, हुई। अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त के मरने के बाद भी वे कुछ समय तक शायद जीवित थे। अपने अन्तिम वय में ही उन्होंने शकुन्तला और रघुवंश का उत्तरार्द्ध लिखा होगा। कालिदास को अपने नूतन वय में उज्जयिनी-राजधानी से बड़ा प्रेम था। पर बुढ़ापे में राजनगर और राजप्रासाद से उन्हें घृणा सी हो गई थी। शकुन्तला में वे दुष्यन्त के राजभवन के विषय में, कण्व के शिष्य के मुँह से, कहलाते हैं—

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।

अनुमान से मालूम होता है कि उनका जितना आदर-सत्कार चन्द्रगुप्त के समय में था उतना उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त के समय में नहीं रहा। इसीसे खिन्न होकर उन्होंने शकुन्तला और रघुवंश के अन्तिम कई सर्गों में अपने मन के विकार, विवश होकर, प्रकट किये हैं। मेघदूत में उज्जयिनी की इतनी प्रशंसा करके, उत्तर वय में वे नगरवास की अपेक्षा वनवास के ही विशेष अनुरागी से हो गये जान पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त के बाद मगध की ऊर्जितावस्था क्षीण होती गई। इसी को लक्ष्य करके कालिदास ने रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कई जगह रघुवंशियों के राज्य की हीना-

पड़ता दिखाई है और अन्त के, अर्थात् उन्नीसवें सर्ग में तो राजा अग्निवर्ण की कामुकता और मृत्यु का वर्णन करके रघु के वंश की प्रायः समाप्ति ही सी कर दी है।

अतएव यह सिद्धप्राय है कि कालिदास ईसवी सन् के चौथे शतक के अन्त और पांचवें शतक के आरम्भ में विद्यमान थे। अशोक के अनन्तर इसी समय भारतवर्ष की गौरव-वृद्धि हुई। मेण्ठ, सुबन्धु, भास आदि महाकवि, दिङ्नाग, उद्योतकर आदि दार्शनिक और आर्यभट, वराह-मिहिर आदि वैज्ञानिक भी इसी समय हुए। उस समय भारत में विद्योन्नति का जो प्रादुर्भाव हुआ वह कोई एक हज़ार वर्ष तक चला रहा। तेरहवें शतक में राजा लक्ष्मणसेन के राज्य का अवसान होने पर उसका भी अवसान हो गया।

सितम्बर १६११।

[४]

बङ्गला के "गृहस्थ" नामक मासिक-पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें कालिदास के समय का निरूपण है, उसे श्रीमनोरञ्जन घोष ने लिखा है। इस लेख में लेखक ने कुछ नई युक्तियाँ दी हैं। लेख का सारांश नीचे दिया जाता है। उससे पाठक उल्लिखित युक्तियों के गौरव-लाघव का विचार स्वयं कर सकेंगे।

चालुक्यवंशीय राजा दूसरे पुलकेशी के समय का एक शिलालेख मिला है। वह ६३४ ईसवी का है। उस शिलालेख में खुदे हुए श्लोकों का कर्ता रविकीर्ति नामक एक कवि है। उसमें उक्त कवि ने कालिदास का नाम दिया है। अतएव कालिदास ईसा की सातवीं शताब्दी के पहले अवश्य वर्तमान थे। उसके बाद के वे नहीं हो सकते।

कालिदास का लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नामक एक नाटक है। उसके नायक का नाम अग्निमित्र है। अग्निमित्र के पिता का नाम पुष्पमित्र था। इसी पुष्पमित्र ने शुङ्गवंश की स्थापना, ईसा के १७८ वर्ष पहले, की थी। इससे यह निश्चित हुआ कि ईसा के पूर्व १७८ वर्ष से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के बीच में किसी समय कालिदास हुए होंगे। अब यह अनुसन्धान करना चाहिए कि इस सात-आठ सौ वर्ष के मध्य में किस समय कालिदास का होना सम्भव है।

कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन किया है। उस स्वयंवर में उपस्थित राजाओं में सब से प्रथम स्थान कालिदास ने मगध-नरेश को दिया है। प्राचीन समय में बड़े बड़े कवि अवश्य ही किसी न किसी राजा के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता का गुण-कीर्तन करना और उसको सबसे बढ़कर प्रतिष्ठा करना

(२) कालिदास ने अपने कुमार-सम्भव के सातवें सर्ग में सप्तमातृका और नरकपालभूषित काली का उल्लेख किया है। गुप्त-राजाओं के समय में ही उत्कीर्ण शिला-लिपियों में पहलेपहल सप्त-मातृका-पूजा का उल्लेख है। ठीक उसी समय बौद्धधर्म से तान्त्रिक हिन्दू-धर्म का विकास हुआ था।

(३) कालिदास के नाटकों में जिस प्रकार की प्राकृत-भाषा का व्यवहार हुआ है उसका मिलान अशोक की शिलालिपियों में व्यवहृत प्राकृत से करने पर मालूम होता है कि दोनों में बहुत अन्तर है। दोनों भाषायें नहीं मिलतीं। यदि कालिदास ईसा के पूर्व जन्म-ग्रहण करते तो उनकी प्राकृत अशोक की प्राकृत से अवश्य ही मिलती। परन्तु वह नहीं मिलती। कालिदास की प्राकृत अशोक के बहुत समय पीछे की प्राकृत है। इससे यह सूचित हुआ कि कालिदास का जन्म उसी समय भारत में हुआ होगा जिस समय इस देश में गुप्त-राजाओं का प्राधान्य था। गुप्त-राजाओं के समय में ही संस्कृत-साहित्य की विशेष उन्नति हुई। उसी समय की प्राकृत का प्रयोग कालिदास के नाटकों में है।

अच्छा तो अब इसका विचार करना है कि किस गुप्त राजा के समय में कालिदास विद्यमान थे।

पण्डितों का विश्वास है कि कालिदास विक्रमादित्य के समय में थे। यह प्रवाद निर्मूल नहीं। कालिदास के एक नाटक का नाम है विक्रमोर्वशी। उसमें पुरुरवा और उर्वशी की कथा है। जान पड़ता है, इस नाटक के नाम में 'विक्रम' शब्द-द्वारा कवि ने विक्रमादित्य-उपाधिधारी राजाओं ही की तरफ़ इशारा किया है। विक्रमादित्य-उपाधिधारी राजाओं का पता गुप्त-वंशीय राजाओं में ही पहलेपहल मिलता है। उन राजाओं के पूर्व भी विक्रमादित्य उपाधिधारी कोई राजा था, इसका पता इतिहास में नहीं।

कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी का जैसा अच्छा वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि वे अवश्य उज्जयिनी गये थे। बिना देखे ऐसा अच्छा और ऐसा सच्चा वर्णन नहीं किया जा सकता। अब देखिए, विक्रमादित्य-उपाधिधारी कोई गुप्तवंशीय राजा उज्जयिनी को गया था या नहीं। गुप्त-राजाओं के इतिहास से ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि विक्रमादित्य थी। उसने क्षत्रपवंशीय शकनृपति रुद्रसिंह को परास्त करके मालवे का राज्य उससे छीन लिया था और उज्जयिनी के सिंहासन पर भी आसीन हुआ था। उदयगिरि नामक गुफा में दूसरे चन्द्रगुप्त का जो लेख उत्कीर्ण है वह इस ऐतिहासिक घटना का साक्ष्य दे रहा है। फ़्लीट साहब की संग्रह की हुई

उत्कीर्ण शिला-लेखों की पुस्तक, के तीसरे भाग में यह लेख दिया हुआ है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध सा है कि कालिदास गुप्त-नरेश दूसरे चन्द्रगुप्त की सभा में थे और उसके साथ वे उज्जैन गये थे। इस निश्चय की पोषकता में और भी कई प्रमाण दिये जा सकते हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पिता का नाम समुद्रगुप्त था। समुद्रगुप्त दिग्विजयी राजा था। इलाहाबाद की लाट पर समुद्रगुप्त की जो प्रशस्ति खुदी हुई है उसमें उन प्रदेशों के नाम हैं जिन्हें समुद्रगुप्त ने जीता था। रघुवंश में कालिदास ने रघु के दिग्विजय का वर्णन करते समय रघु के द्वारा जिन प्रदेशों का जीता जाना लिखा है वे सब समुद्रगुप्त के द्वारा जीते गये प्रदेशों के नाम आदि से प्रायः ठीकठीक मिलते हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि अपने आश्रय-दाता चन्द्रगुप्त के पिता के विजय को ध्यान में रखकर ही कालिदास ने रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है।

कालिदास ने मेघदूत में दिङ्नाग नामक बौद्ध-नैयायिक का उल्लेख किया है। इस दिङ्नाग का ऐतिहासिक पता लग गया है। बौद्ध साहित्य के अवलोकन और चीनी-परिव्राजक ह्वेनसाङ्ग के भ्रमण-वृत्तान्त के पाठ से ज्ञात होता है कि मनोरथ नामक बौद्ध पण्डित के दो शिष्य

थे—एक आसङ्ग, दूसरा वसुबन्धु। इसी वसुबन्धु का शिष्य दिङ्नाग था। पुष्पपुर, अर्थात् प्राचीन पटना, में ही दिङ्नाग ने वसुबन्धु का शिष्यत्व ग्रहण किया था। वसुबन्धु और दिङ्नाग ने ही नालन्द-विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। दिङ्नाग के न्यायशास्त्र का नाम प्रमाण-समुच्चय है। बौद्धाचार्य्य वसुबन्धु स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य की सभा में थे और उनके गुरु मनोरथ कुमारगुप्त की सभा में। परमार्थ नामक पण्डित मगध देश से चीन गये थे। बौद्ध-धर्म्म के प्रचार के लिए वे नरेन्द्रगुप्त बलादित्य द्वारा भेजे गये थे। ५६६ ईसवी में वे चीन में परलोकगामी हुए। परमार्थ का लिखा हुआ वसुबन्धु का एक जीवनचरित है। उसीमें लिखा है कि वसुबन्धु स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य के सभा-पण्डित थे। उधर ह्वेनसाङ्ग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में लिखा है कि मनोरथ मगध-नरेश कुमार-गुप्त की सभा में शास्त्रार्थ करने गये थे। वहाँ वे अन्यायपूर्वक परास्त किये गये। इस कारण उन्होंने आत्महत्या कर ली और इस अन्याय की सूचना, मरने के पहले, उन्होंने अपने शिष्य वसुबन्धु को दी। इससे यह प्रमाण मिला कि कुमारगुप्त के राजत्वकाल में वसुबन्धु और दिङ्नाग दोनों ही विद्यमान थे। अन्याय-पूर्वक किये गये मनोरथ के पराजय में कालिदास भी शामिल थे। अपने गुरु के गुरु मनोरथ पण्डित के पराजय का

प्रतिशोध करने के लिए ही दिङ्नाग ने कालिदास के काव्यों की प्रतिकूल समालोचना की थी। यही कारण है कि मेघदूत में कालिदास ने दिङ्नाग का उस प्रकार व्यङ्ग-पूर्वक उल्लेख किया है। इससे यह सूचित हुआ कि कुमार-गुप्त की सभा की शोभा भी कालिदास ने बढ़ाई थी।

कालिदास ने अपने काव्यों में राशि-चक्र का उल्लेख किया है। जामित्र और होरा इत्यादि ज्योतिष के कुछ पारिभाषिक शब्द भी उन्होंने लिखे हैं। ज्योतिष का सूर्य्य-सिद्धान्त ३०० ईसवी के आसपास का ग्रन्थ है। उसमें राशिचक्र का उल्लेख नहीं। परन्तु आर्य्यभट्ट के ग्रन्थ में है। आर्य्यभट्ट का जन्म ४७८ ईसवी में पाटलिपुत्र में हुआ था।

राशिचक्र और जामित्र आदि शब्दों का ज्ञान हमें ग्रीक लोगों से हुआ। होरा, द्रेष्काण इत्यादि राशिचक्र के विभागों की बात सबसे पहले फर्मीकस मीटरनस (Fermicus meternus) नामक ग्रीक ज्योतिषी के ग्रन्थ में उल्लिखित हुई है। उसका समय ३३६ ईसवी से ३५४ ईसवी तक है। इससे सिद्ध है कि कालिदास ३३६ ईसवी के अनन्तर वर्तमान थे।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे यह ज्ञान हुआ कि ३३६ ईसवी के पहले कालिदास का जन्म-ग्रहण करना इतिहास-दृष्टि से असम्भव है। अतएव मिन

पड़ी है। अब "वेतालभट्ट-घटखर्पर कालिदासा" ही भर कहकर कालिदास को नवरत्नों में गिनने अथवा विक्रम-संवत् की पहली शताब्दी में उन्हें मानने से काम नहीं चलता। अमर कवि शेक्सपियर अपनी उत्तम नाट्य-रचना के कारण ही शायद अपराधी ठहराये गये हैं। इसीसे उनपर बेकन-विषयक कलङ्क लगाया गया है। कुछ लोगों ने यह कहने का साहस किया है कि उनके नाटक बेकन नामक दार्शनिक विद्वान् के लिखे हुए हैं। संसार का जब यह हाल है तब आश्चर्य नहीं जो कुमार-सम्भव और शकुन्तला के कर्ता हमारे कालिदास को लोग काश्मीर का राजा मातृगुप्त बनावें और राजसिंहासन के भार से उन्हें पीड़ित करें। अन्ध-कवि होमर की मातृ-भूमि बनने के लिए भी तो सैकड़ों नगरों का परस्पर बहुत कुछ वाद विवाद हो चुका है। इस दशा में कालिदास को अपने ही यहाँ उत्पन्न होने का दावा करने में यदि भारत की चारों दिशायें—नदिया, काश्मीर, और सिंहल तक परस्पर प्रतिद्वन्दिता प्रारम्भ कर दें तो कोई विशेष बात नहीं। इसके सिवा कालिदास की जन्म-तिथि के विषय में भी यदि देश के विद्वान् ईसा की पहली शताब्दी से हजार वर्ष आगे तक की दौड़ न लगावें तो उनकी विद्वत्ता की तारीफ ही क्या! बेंटले साहब ने प्रमाण उपस्थित कर दिया कि कालिदास ईसा की ग्यारहवीं

शताब्दी में विद्यमान थे। हिमलाइट फाम साहब अपना सुर कुछ धीमा करके बोले– नहीं, कालिदास का ईसा की आठवीं शताब्दी में होना निश्चित है। पीटर्सन साहब ने कालिदास को एकदम ईसा की पहली शताब्दी में पहुँचा दिया। कीलहार्न और विलफर्ड इत्यादि उन्हें ईसा की पाँचवीं शताब्दी में लाकर निश्चिन्त हो गये।

हमारे लिए सौभाग्य की बात इतनी ही है कि समालोचकों की यथेष्ट कृपा-दृष्टि होने पर भी हम निर्भयता-पूर्वक कह सकते हैं कि ऋतु-संहार और मेघदूत, कुमार-सम्भव और रघुवंश, द्वात्रिंशत् पुत्तलिका, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र और शकुन्तला—ये सब नाटक और काव्य एक ही कवि, स्वयं कालिदास, की अमर लेखनी से निकले हैं। अपने इन्हीं काव्यों के कारण ही हमारे कालिदास, वालर और टामसन की तरह उच्च श्रेणी के स्वभाव-सिद्ध कवि, शेली और स्वेनबर्न की तरह गीति-काव्यों के रचयिता, वाल्टेयर की तरह जातीय महाकाव्यों के प्रणेता, बोकेशियो की तरह आख्यायिका लिखने में सिद्धहस्त, और कार्नेल काल्डेरन की तरह प्रचलित प्रथा की नाट्य-रचना में निपुण माने जाते हैं। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि कालिदास का आसन इतना ऊँचा नहीं जितना कि होमर, सोफेक्लिस, वर्जिल, डान्ते, शेक्सपियर और मिल्टन का है।

पर साहित्य में कालिदास की तरह अपनी प्रतिभा का विकाश करनेवाले बहुत कम कवि देखे जाते हैं। कालिदास की तरह प्रतिभा का विकाश होना साहित्य के एक अद्भुत युग में ही सम्भव है।

साहित्यज्ञों ने, प्रधान प्रधान लक्षणों के अनुसार, साहित्य के सारे युगों को तीन भागों में विभक्त किया है। ये विभाग हैं—प्राचीन, मध्य और नवोत्थित। यह बात केवल योरप के साहित्य की नहीं, किन्तु प्रायः सभी जातीय साहित्यों की है। सभी के ये तीन विभाग किये जा सकते हैं। साहित्य-द्वारा प्रकाश करने का मुख्य विषय या तो बहिर्जगत् होता है या अन्तर्जगत्। भिन्न भिन्न युगों में इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न होता है। एक युग के सभी साहित्यों की रचना में कुछ न कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। जब किसी साहित्य में हम देखते हैं कि अन्तर्जगत् और परजगत्, क्रम क्रम से, बाह्यजगत् और इहजगत् को हयाकर उससे बढ़ गये हैं तब हम समझ लेते हैं कि उस साहित्य या उस काल में मध्ययुग (Medieval) का प्रभाव प्रबल है। इसके बहुत पहले भूतकाल के अन्धकार को दूर करके कभी कभी प्राचीन काल का एक प्रकाशमान और सौम्य आभास देख पड़ता है। उस समय बहिर्जगत्, अन्तर्जगत्, दृश्य जगत् और अदृश्य जगत्—इन में से किसी

का भी भेद मालूम नहीं पड़ता। उस समय जान पड़ता है, मानों सत्ययुग की तरह पृथ्वी मधुपूर्ण हो गई है, और कोई शान्त तथा उदार होमर या महर्षि वाल्मीकि मधु-वर्षण कर रहे हैं। ऐसा समय—ऐसा युग—प्राप्त करने का सौभाग्य बहुत कम जातियों को होता है। सत्ययुग के बाद धार्मिकता और दशापन्नी का समय आता है। यह समय सर्वत्र सुपरिचित है। इसे चाहे Renaissance कहिए, चाहे नवोत्थान। बात एक ही है। अचानक एक दिन निद्रा भङ्ग हो जाती है। जाति पैदा हो जाती है। कवि अपनी कविता द्वारा घोषणा करने लगते हैं—यह जीवन सुखोपभोग ही के लिए है, जीवन के उपभोग और जीव के उत्कर्ष के लिए ही ईश्वर की उपासना की आवश्यकता है। बोकेशियो और काल्डेरन, कविकुलगुरु भास और शेक्सपियर आदि संसार में अवतीर्ण होते हैं। वे परलोक-गत प्राणियों के विषय में कुछभी कहने का प्रयास नहीं उठाते। जीव-जगत को ही विश्व की अन्तरात्मा समझकर उसीका वे यशोगान आरम्भ कर देते हैं। इसी समय विश्व-विषयक नाना समाचार सुनने के लिए एक और प्रकार के भी लोग उत्पन्न होते हैं। परमेश्वर का उज्ज्वल दृश्य हृदयतल पर अंकित करने के लिए, और उसके द्वारा सर्वव्यापकता के विधानों को मानो समझाने के लिए

लिखने का मतलब यह है कि कालिदास का आविर्भाव ऊपर बतलाये हुए किसी भी युग में नहीं हुआ। अतएव भारतीय साहित्य को जरा देर के लिए प्रत्नतत्व के भँवर से बाहर निकालकर, साहित्य-सेवी की दृष्टि से हम उसमें कालिदास का स्थान निर्दिष्ट करना चाहते हैं। हम दिखाना चाहते हैं कि कालिदास का युग संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत युग है। उस समय उसके लिए वही समय था जिसे मैथ्यू आर्नल्ड ने "मध्य युग" कहा है। उसे माहेन्द्रयोग कहना चाहिए। इस महान् किन्तु क्षणस्थायी "मध्य युग" का आविर्भाव उस समय होता है जिस समय किसी जाति के जीवन का पहलेपहल उन्मेष आरम्भ होता है अथवा उसके अन्तिम सङ्गीत का समय आता है —जिस समय विज्ञान, समाज, धर्म्म, साहित्य आदि सबके सब समभाव से सम्मान प्राप्त करते और उन्नत होते हैं- जिस समय साहित्य में इह-जगत् और पर-जगत् दोनों, वाणी और अर्थ की तरह, परस्पर सम्मिलित देख पड़ते हैं। इस युग के आविर्भाव के समय ही हमें सब प्रकार की विद्याओं और कलाओं में निष्णात, सब प्रकार की रचनाओं के पारदर्शी, कोई गेटी, टालस्टाय या कालिदास प्राप्त होते हैं। नहीं कह सकते, हमारा यह मत उस समय टिकेगा या नहीं जब सारा संस्कृत-साहित्य प्रत्न-तत्वविशा

रद्दों के वाग्बन्धन की परवा न करके किसी साहित्यसेवी के विशेष अनुभव की सहायता पाकर विश्लेषित होगा। किन्तु कालिदास के काव्य जितना ही अधिक पाठ किये जाते हैं हमारा पूर्वोक्त मत उतना ही अधिक दृढ़ होता है। "रघुपति-काव्यम्" की सरल भाषा से हम जितना ही अधिक मुग्ध होते हैं उतना ही अधिक मन में यह निश्चय दृढ़ होता है कि भारत के जीवित समय में साहित्य की सरल भाषा और मनोह भाव के आदि कवि जैसे महर्षि वाल्मीकि हैं वैसे ही उसके अन्तिम समय के गायक कालिदास हैं। कालिदास के रघुवंश का जितना ही पाठ आप कीजिए, आपके मन में यह विश्वास उतना ही दृढ़ होता जायगा कि यह आर्यों के गौरव, आर्यों के प्राधान्य, आर्यों के एकच्छत्र राज्य के प्रकाशक निर्वाणोन्मुख दीपक की प्रज्वलित अग्निशिखा के समान है।

'गुप्त-मूल-प्रत्यन्त' रघु का भारत-विजय निर्विघ्न समाप्त हो गया, 'गुप्त-सदृश' अज ने इन्दुमती को प्राप्त कर लिया, रामचन्द्र का धर्म-राज्य भी हो चुका। किन्तु भविष्यत् में शीघ्र ही भारत की राजधानी अयोध्या के राजमार्गों के ऊपर गीदड़ों का समूह फिरने लगेगा—उसके महल टूटफूट खँडहर हो जायँगे—उसके सुन्दर और रमणीक बग़ीचे—जङ्गली भैंसों के घर बन जायँगे। कालिदास ने जान लिया था कि यद्यपि 'आसमुद्रक्षितीश' समुद्रगुप्त के समय से गुप्त-

राजाओं का एकच्छत्र राज्य भारतवर्ष में चला आता है, यद्यपि उन्होंने साकेत के उपवन में—रामचन्द्र की उसी पुरानी अयोध्या में—अपनी राजधानी की स्थापना कर दी है, यद्यपि उन्होंने हूणों का पराभव कर दिया है,—तथापि आर्य्य जाति का यह अभ्युदय स्थायी नहीं, क्षणिक है। खण्ड राज्यों में विभक्त होकर भारत की दशा फिर शीघ्र ही अवनत हो जायगी। आप लोग सोचते होंगे कि रघुवंश में गुप्त-राजाओं का प्रच्छन्न प्रवेश हो गया। उसमें गुप्त-राजाओं के संसर्ग का ज्ञान कहाँ से तुमने प्राप्त किया? सुनिए। भारतवर्ष के नेपोलियन समुद्रगुप्त का नाम आज यहाँ पाश्चात्य पण्डितों की कृपा से सुपरिचित हो रहा है। यह, उसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त, जिसे आजकल के इतिहासज्ञ विक्रमादित्य बतलाते हैं, उसका पौत्र कुमारगुप्त और प्रपौत्र स्कन्दगुप्त सभी भारतवर्ष के एकच्छत्र राजा थे। इन गुप्तवंशी राजाओं ने राजसूय-यज्ञ तक किया था। अयोध्या में इन्होंने अपनी राजधानी भी स्थापित की थी। इसी कारण रघु के वंशधरों के साथ, साहित्य में, ये भी शामिल हो गये हैं। आजकल एक प्रकार से यह निश्चित हो गया है कि कालिदास ने रघुवंश की रचना किसी गुप्तवंशी राजा की प्रसन्नता के लिए ही की थी। किसी किसी का मत तो यहाँ तक है कि कुमारगुप्त या स्कन्दगुप्त के अभ्योपलक्ष्य में ही

कालिदास ने कुमार-सम्भव की रचना की है। देखिए, रघुवंश में इन बातों के कोई चिह्न भी हैं या नहीं?

बहुतों का मत है कि रघुवंश के प्रत्येक सर्ग में गुप्त-राजाओं का नाम वर्तमान है। चौथे और पाँचवें सर्ग के निम्नोद्धृत श्लोक इस सन्देह को अच्छी तरह दूर कर देते हैं—

(१) इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।
४/२०

(२) स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥
४/२६

(३) ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी
कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना
तमात्मजन्मानमजं चकार॥ ५/३६

किन्तु रघुवंश के चौथे और छठे सर्ग में इससे अपेक्षा और भी अधिक अखण्डनीय प्रमाण पाये जाते हैं। कालिदास-कृत सम्पूर्ण वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि उन्होंने रघुवंश में जो कुछ लिखा है वह सब उनकी आँखों

देखी अथवा उससे कुछ समय पहले व्यतीत हुई घटनावली का वर्णन है। ये सब घटनायें पाँचवीं सदी में, गुप्त-राजाओं के अभ्युदय के समय में ही, हुई थीं। यह बात रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित एक गवेषणा-पूर्ण निबन्ध से स्पष्ट सिद्ध होती है। रघुवंश के चौथे सर्ग के ५८ श्लोक से ७१ श्लोक तक के वर्णन से पता लगता है कि उस समय ईरानी (पारस्यदेश-वासी) लोग भारत के पश्चिमी प्रान्त में राज्य करते थे। शायद बलोचिस्तान और कन्धार की 'द्राक्षावलयभूमि' उन्हीं के अधिकार में थी। हूण लोग उस समय भारत के उत्तर काश्मीर के कुंकुमोत्पादक प्रान्त-समूहों के राजा थे। हूण-राज्य के उत्तर, हिमालय की दूसरी ओर, काम्बोज का राज्य फैला हुआ था। इन तीनों राज्यों का इस प्रकार सन्निवेश, पाँचवीं शताब्दी में, बहुत ही थोड़े समय तक था। हम चीन और फारिस के इतिहास से जान सकते हैं कि सन् ४०५ ईसवी के पहले श्वेत वर्ण के हूणों ने गान्धार देश जीत लिया था। इसके बाद, ४८४ ईसवी में, इन्हीं हूणों के साथ फारिस के राजा फीरोज़ का भीषण युद्ध हुआ था। फीरोज़ इस युद्ध में परास्त और हत हुआ, और भारत के समीपवर्ती पूर्वोक्त प्रान्त उसके अधिकार से निकलकर हूणों के अधिकार में चले गये। चीन के परिव्राजक सुं-इयेन के लेखों से भी यह बात

परिपुष्ट होती है। उसने लिखा है कि महाराज चिह्नोपाड़ के राज्यकाल के प्रथम वर्ष, अर्थात् ५२० ईसवी में, वह गान्धार-देश में आया था। वहाँ उसने दो पीढ़ियों से राज्य करते हुए इफ़्था अर्थात् श्वेत-वर्ण के हूणों के वंशधरों, को देखा था। मीस के रहनेवाले भारत-यात्री कासमस (Cosmus) ने, ५२२ ईसवी में, लिखा है कि उस समय भारत के उत्तर और पश्चिम में हूण राजा गोलास बड़े समारोह के साथ राज्य करता था। इन बातों से हम सहज में ही अनुमान कर सकते हैं कि रघुवंश के चौथे सर्ग में, ४६५ ईसवी के कुछ बाद की और ५२२ ईसवी से कुछ पहले की, घटनावलियों का ही वर्णन है। कालिदास के मन में गुप्त-राजाओं के कथा-वर्णन की जो अभिलाषा थी उसे उन्होंने रघु और अज की कथाओं के बहाने पूर्ण किया है। "स गुप्तमूलप्रत्यन्तः", "तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्" और छठे सर्ग के चौथे श्लोक के, "मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन" आदि पद इस बात के दृढ़ और स्पष्ट प्रमाण हैं। क्योंकि गुप्त-राजाओं के कुल-देवता स्वामि-कार्तिक थे और उनके चाँदी के सिक्कों की पीठ पर मयूर ही का चिह्न रहता था। अतएव यह निश्चित समझिए कि रघुवंश में उल्लिखित यवनों, हूणों और पारसीकों का अवस्थान केवल पाँचवीं शताब्दी में सम्भव था। महाभारत और पुराणों में इन लोगों

अवश्य। पर उनके मुख्य अवस्थिति-स्थानों और स्थानीय द्रव्यों का उल्लेख उन ग्रन्थों में ठीक वैसा नहीं जैसा कि रघुवंश में है। उनकी अवस्थिति आदि का ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इस पर यह कहा जा सकता है कि, सम्भव है, कालिदास ने इसके बहुत समय बाद इन घटनाओं के आधार पर अपने काव्य की रचना की हो। इस सम्भावना के खण्डन में भी यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं। मन्दसोर में ४७२ ईसवी का जो शिलालेख पाया गया है उसके कई श्लोक में मेघदूत के श्लोकों की छाया दिखाई देती है। इससे सिद्ध है कि मेघदूत उस शिलालेख के खोदे जाने के अवश्य कुछ पहले लिखा गया था। रचना की श्रेष्ठता, छन्दों की मधुरता और उपमा आदि अलङ्कारों की सार्थकता से सूचित है कि कालिदास का रघुवंश उनके मेघदूत से कम से कम २० वर्ष बाद लिखा गया है। ईसा की सातवीं सदी में कालिदास सारे भारत में प्रसिद्ध हो चुके थे। यह बात आइहोल के शिलालेख से सिद्ध है। आठवीं शताब्दी में कुमारिल की पुस्तक में कालिदास का नाम है। वाक्पतिराज नामक प्रसिद्ध प्राकृत-कवि ने रघुवंश, मेघदूत और विक्रमोर्वशी के श्लोक अपने काव्य में उद्धृत किये हैं। दसवीं शताब्दी में कालिदास कविकुल-शिरोमणि माने जा चुके थे। क्योंकि, पोम्प नामक कवि ने इस बात का अहङ्कार प्रकट किया है कि मैं कालिदास से श्रेष्ठ कवि हूं।

राजतरङ्गिणी से जाना जाता है कि महाराज वि-क्रमादित्य ने काश्मी का राज्य अपने मित्र कवि मातृगुप्त नामक एक ब्राह्मण को, पुरस्कार में, दिया था। बहुतों के मतसे यह मातृगुप्त कालिदास ही है। किन्तु जब हम देखते हैं कि राघवभट्ट ने अपनी शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त नामक एक कवि का उल्लेख किया है और उसके बनाये हुए अभि-नय-भारती नामक ग्रन्थ का भी नाम लिया है तब यह मत एकदम छिन्नमूल हो जाता है। राघवभट्ट ने तो कहीं सं-केत से भी यह नहीं दिखाना चाहा कि मातृगुप्त और कालि-दास एकही थे। अस्तु। हमारे कवि-कुल-शिरोमणि का चाहे जो नाम रहा हो, चाहे वे जहाँ पैदा हुए हों, पर जब तक उनके लिखे हुए अमर ग्रन्थ-समूह बने रहेंगे और जब तक संस्कृत-साहित्य इस संसार में जीता रहेगा तब तक हम उन-के विषय में निरन्तर कहते ही रहेंगे—

पुष्पेषु जाती नगरेषु काञ्ची
नदीषु गङ्गा कवि कालिदासः।

जनवरी १९११।

[७]

कालिदास के विषय में अब जाकर एक नई खोज
इस खोज का वर्णन एक महाशय ने अपने एक

लेख में किया है। उनका नाम है—शिवराम महादेव परांजपे, एम० ए०। आपके लेख का आशय, थोड़े में, सुन लीजिए—

कालिदास ने मेघदूत में मेघ को जो मार्ग बताया है वह टेढ़ामेढ़ा है। रामगिरि कहीं मध्यप्रदेश में है। वहाँ से अलका अथवा कैलाश आने के लिए सीधा मार्ग जबलपुर प्रयाग, अयोध्या वग़ैरह से था। बड़े बड़े पर्वतों और नदियों का उल्लंघन करना मेघ के लिए सहज बात है। अतएव राह की कठिनता के कारण कालिदास ने मेघ को टेढ़े मार्ग से आने को कहा, यह दलील कुछ अर्थ नहीं रखती। फिर, क्यों उन्होंने अमरकण्टक, मालवदेश, चित्रकूट, भिलसा, देवगिरि, उज्जयिनी, अवन्ती, चम्बल आदि के मार्ग से उसे आने की सलाह दी? क्यों बार बार यह कहा कि विदिशा (भिलसा) को ज़रूर देखते जाना, उज्जयिनी की ज़रूर सैर कर लेना, महाकाल के ज़रूर दर्शन करना? क्यों यह कहा कि इस टेढ़ीमेढ़ी और दूर की राह से आने में फेर तो ज़रूर पड़ेगा, पर इसकी परवा न करना? नेत्रों का साफल्य इसी राह से आने में है। क्यों विदिशा और उज्जयिनी के, तथा उनके आस-पास के स्थानों, पर्वतों और नदियों आदि का वर्णन उन्होंने इतना विस्तृत और इतना सुन्दर किया? क्यों ६०० मील के सीधे मार्ग से मेघ को न भेजकर १२०० मील के टेढ़े मार्ग से उन्होंने उसे अलका

राजतरङ्गिणी से जाना जाता है कि महाराज विक्रमादित्य ने काश्मीर का राज्य अपने मित्र कवि मातृगुप्त नामक एक ब्राह्मण को, पुरस्कार में, दिया था। बहुतों के मत से यह मातृगुप्त कालिदास ही हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि राघवभट्ट ने अपनी शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त नामक एक कवि का उल्लेख किया है और उसके बनाये हुए अभिनय-भारती नामक ग्रन्थ का भी नाम लिखा है तब यह मत एकदम छिन्नमूल हो जाता है। राघवभट्ट ने तो कहीं संकेत से भी यह नहीं दिखाना चाहा कि मातृगुप्त और कालिदास एकही थे। अस्तु। हमारे कवि-कुल-शिरोमणि का चाहे जो नाम रहा हो, चाहे वे जहाँ पैदा हुए हों, पर जब तक उनके लिखे हुए अमर ग्रन्थ-समूह बने रहेंगे और जब तक संस्कृत-साहित्य इस संसार में जीता रहेगा तब तक हम उनके विषय में निरन्तर कहते ही रहेंगे—

पुष्पेषु जाती नगरेषु काञ्ची
नदीषु गङ्गा कवि कालिदासः।

जनवरी १६१६ ।

[७]

कालिदास के विषय में अब जाकर एक
हुई है। इस खोज का वर्णन एक महाशय

किया है। ये बातें न किसी इतिहास में हैं, न किसी पुराण में, न किसी और ही ग्रन्थ में। अतएव अनुमान से यही मालूम होता है कि कालिदास कहीं उसी प्रान्त के निवासी थे और यदि वे अग्निमित्र के शासन-समय में ही विद्यमान न थे तो उसके सौ ही पचास वर्ष बाद ज़रूर हुए होंगे। वे अग्निमित्र के बाद उसी समय हुए होंगे जब लोगों को अग्निमित्र के शासन-समय की छोटी छोटी बातों तक का स्मरण बना रहा होगा। सब बातों की बात यह है कि कालिदास ईसवी सन् के पूर्व दूसरी सदी में नहीं, तो पहली सदी में ज़रूर विद्यमान रहे होंगे। यह वही ईसा के पूर्व ५६ वर्ष वाली बात हुई। अर्थात् कालिदास विक्रमादित्य के समय में थे।

यही इस नई खोज का सारांश है। देखना है, कालिदास को गुप्त-नरेशों के शासन-समय में—अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी में—बतलाने वाले खोजक विद्वान् इस पर क्या कहते हैं।

विद्वज्जन कालिदास का समय निर्णय करने में अब तक बराबर व्यस्त हैं। अब उन लोगों की संख्या अधिक होती जा रही है जो कालिदास को ईसवी सन् के पहले हुआ मानते हैं। वे लोग मानते ही नहीं, अपने इस अनुमान की पुष्टि में प्रमाण भी देते हैं। आज एक और महाशय के भी

अनुमान की बात सुन लीजिए। आपका नाम है—पण्डित रामचन्द्र विनायक पटवर्धन, बी० ए०, एल० एल० बी०। आपका लेख "चित्र-मय जगत्" में, कुछ दिन हुए, निकला है। उसके कुछ अंश का आशय यह है—

मेघदूत के (१) "आषाढस्य प्रथमदिवसे" (२) "प्रत्यासन्ने नभसि" और (३) "शापान्तो मे भुजगशयनात्"—इन तीन श्लोकों में आषाढ़ारम्भ, नभोमास और देवोत्थानी एकादशी का उल्लेख है। इनके आधार पर पटवर्धन महाशय ने ज्यौतिषिक गणना की है। यह गणना अधिकांश पाठकों की समझ में न आवेगी, इस कारण इसे हम छोड़े देते हैं। पटवर्धनजी का निगमन यह है कि मेघदूत की रचना के समय सूर्य्य जब पुष्य-नक्षत्र के प्रथम चरण में होता था तब नभोमास अर्थात् सायन-कर्क-संक्रान्ति (Summer Solstice) का आरम्भ होता था। पर अब यह आर्द्रारम्भ में होता है। अर्थात् नभोमास अब २८°—३१° अंश पीछे हटकर होता है। इससे पटवर्धनजी ने गणित करके यह दिखाया है कि वर्तमान स्थिति को उपस्थित होने के लिए १८०० वर्ष चाहिए। मतलब यह कि कालिदास को हुए कम से कम इतने वर्ष ज़रूर हुए। रघुवंश के चौथे सर्ग में एक श्लोक है—"प्रससारोद्धयारम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः"। इसके आधार पर भी गणित करके आपने प्रायः यही बात सिद्ध की है।

सो इनके और परांजपे महाशय के अनुमान के अनुसार कालिदास का स्थिति-काल, ईसवी सन् के आरम्भ के उसी तरफ ठीक मालूम होता है —अर्थात् ईसा के ५६ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय में।

सितंबर १६१८

२—कालिदास के विषय में जैन पण्डितों की एक निर्मूल कल्पना।

दक्षिण-हैदराबाद की रियासत में मालखेड़ नामक एक क़सबा है। कोई एक हज़ार वर्ष पहले यह स्थान बड़ी उन्नत अवस्था में था। राष्ट्र-कूट-वंशी राजाओं की यह राजधानी था। इसका पुराना नाम है—मान्य-खेट। यहाँ के राजाओं के अनेक शिला-लेख और ताम्रपत्र मिले हैं। ये इंडियन ऐंटिक्वेरी आदि पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। डाक्टर भाण्डारकर ने प्रायः इन्हीं

लेखों के आधार पर दक्षिण का एक इतिहास लिख डाला है। उसमें एक अध्याय आपने मालखेड़ के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजाओं पर भी लिखा है।

मालखेड़ में अमोघवर्ष (प्रथम) नाम का एक राजा था। शिला-लेखों और ताम्रपत्रों के आधार पर उसका शासन-काल ८१५ से ८७७ ईसवी तक निश्चित हुआ है। उसने कोई ६२ वर्ष राज्य किया। वह बड़ा पण्डित था। प्रश्नोत्तर-रत्न-माला नामक पुस्तक उसीकी रचना है। पुरानी अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धिनी कविराजमार्ग नामक एक और पुस्तक भी उसके नाम से प्रसिद्ध है। वह कानड़ी भाषा में है। जैन-साधु वीरसेन के शिष्य जिन-सेनाचार्य्य इस राजा के गुरु थे। जैनियों के आदिपुराण नामक ग्रन्थ के कर्ता जिनसेन ही हैं। इस पुराण के पूर्ण होने के पहले ही वे परलोक-वासी हो गये। अतएव उनके शिष्य गुणभद्र ने उसकी पूर्ति की।

आचार्य्य जिनसेन का लिखा हुआ पार्श्वाभ्युदय नाम का एक काव्य है। वह ईसा की नवीं सदी का है। उसमें कालिदास-कृत मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के एक एक चरण का—कहीं कहीं दो दो का भी—आवेष्टन करके पार्श्व-नाथ का चरित वर्णन किया है। अर्थात् मेघदूत के श्लोक-पाद, समस्या के तौर पर, पार्श्वनाथ के चरित-वर्णन में घटा दिये गये हैं। यथा—

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन्बद्धवैरेण दग्धः
कश्चित् कान्ता-विरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः ॥

इसी तरह सारे मेघदूत के आधार पर, यह पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य, चार सर्गों में, समाप्त किया गया है। अन्त में इसके कर्ता, जिनसेन, ने लिखा है—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः
श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण
काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥

अर्थात् वीरसेन मुनि के शिष्य विनयसेन की प्रेरणा से जिनसेन ने इसकी रचना की। जिनसेन भी वीरसेन के शिष्य थे। इस कारण जिनसेन और विनयसेन गुरु-भाई हुए।

अच्छा, विनयसेन ने क्यों ऐसी प्रेरणा की? अनुमान से मालूम होता है कि विनयसेन को मेघदूत बहुत पसन्द आया। परन्तु विरक्त होने के कारण उन्हें उसका विषय, जो शृङ्गाररस से परिप्लुत है, अच्छा न लगा। उन्होंने शायद सोचा कि ऐसा अच्छा काव्य यदि किसी जैन तीर्थङ्कर पर घटा दिया जाय तो घटानेवाले के कविताचातुर्य का भी प्रकाशन हो जाय और यह काव्य जैन-साधुओं के

पढ़ने योग्य भी हो जाय। यह बात विनयसेन ने जिनसेन से कही होगी। इस सलाह को जिनसेन ने पसन्द करके ही, जान पड़ता है, पार्श्वाभ्युदय की रचना की है।

पण्डिताचार्य्य योगिराट् नामक एक जैन-पण्डित ने पार्श्वाभ्युदय की टीका लिखी है। मैसोर में एक स्थान श्रवण-बेलगोला नाम का है। ये वहाँ के जैन मठ के गुरु थे। उन्होंने अपनी टीका में इरुगदण्डनाथ के बनाये हुए रत्न-माला नामक कोश का हवाला कई जगह दिया है। ये योगिराट् विजयनगर-नरेश हरिहर के समय में थे। अर्थात् ये शक-संवत १३२१ (१३९९ ईसवी) में विद्यमान थे। इस से मालूम हुआ कि पार्श्वाभ्युदय के निर्म्माण के कोई पाँच सौ वर्ष बाद योगिराट् ने यह टीका बनाई।

इस टीका के अन्त में टीकाकार ने इस काव्य के निर्म्माण का कारण लिखा है। उसमें १८ श्लोक हैं। उनमें से पहले १६ श्लोक ज्यों के त्यों नीचे नक़ल किये जाते हैं—

श्रीजिनेन्द्रमताम्भोन्दुर्मूलसङ्घाम्बरांशुमान् ।
वीरसेनाभिधानो योऽभवत्तीर्थाचार्यपुङ्गवः ॥ १ ॥
तच्छिष्यो जिनसेनार्यो बभूव मुनिनायकः ।
यत्कृतिर्भुवनेऽद्यापि चन्द्रिका प्रसरायते ॥ २ ॥
बङ्कापुरे जिनेन्द्राङ्घ्रिसरोजेन्दिन्दिरोपमः ।
अमोघवर्षनामाऽभून्महाराजो महोदयः ॥ ३ ॥

स स्वस्यजिनसेनर्षिं विधाय परमं गुरुम्।
सद्धर्मं द्योतयंस्तस्थौ पितृवत्पालयन्प्रजाः ॥ ४ ॥
कालिदासाह्वयः कश्चित्कविः कृत्वा महौजसा।
मेघदूताभिधं काव्यं भ्रामयन्गर्वतो नृपान् ॥ ५ ॥
अमोघवर्षराजस्य सभामेत्य मदोद्धतः।
विदुषोऽवगणय्यैव प्रभुमश्रावयत्कृतिम् ॥ ६ ॥
तदा विनयसेनस्य सतीर्थ्यस्योपरोधतः।
तद्विद्याहंकृतिच्युत्यै सन्मार्गोद्दीप्तये परम् ॥ ७ ॥
जिनसेनमुनीशानस्त्रैविद्याधीश्वराग्रणीः।
विश्रुत्य प्राक्तनग्रन्थप्रबन्धश्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥
एकसन्धित्वतस्सर्वं गृहीत्वा पद्यमर्थतः।
भूभृद्विद्वत्सभामध्ये प्रोचे परिहसन्निति ॥ ९ ॥
पुरातनकृतिस्तेयात्काव्यं रम्यमभूदिदम्।
तच्छ्रुत्वा सोऽप्यवीद्दुष्टः पठतात्कृतिरस्ति चेत् ॥ १० ॥
पुरान्तरे सुदूरेऽस्ति थासराष्टकमावधः।
आनाय्य वाचयिष्यामीत्यवोचद्यमिकुञ्जरः ॥ ११ ॥
इत्येतस्यावलोपाय सभापतिपुरोगमाः।
तथैवास्त्विति माध्यस्थ्यात्समयं चक्रिरे मिथः ॥ १२ ॥
धीमत्पार्श्वार्हदीशस्य कथामाश्रित्य सोऽतनोत्।
श्रीपार्श्वाभ्युदयं काव्यं तत्पादाग्रांघ्रिवेष्टितम् ॥ १३ ॥
सङ्घे तद्दिवसे काव्यं वाचयित्वा स संसदि।

[कालिदास के विषय में उन पंडितों की एक निर्मूल कल्पना ।

तदुदन्तमुदीर्याथ कालिदासममानयत् ॥ १४ ॥
श्रीमद्वेल्गुलविन्ध्याद्रिप्रोल्लसद्दोर्बलीशिनः ।
श्रीपादाम्बुजमूलस्थः पण्डिताचार्ययोगिराट् ॥ १५ ॥
तन्मुनीन्द्रमतिप्रौढिप्रकटीकरणोत्सुकः ।
तद्व्याख्यां प्रार्थितश्चक्रे जिनसुन्दर सूनुना ॥ १६ ॥

संक्षेप में इन पद्यों का मतलब यह है कि कालिदास नाम के किसी कवि ने मेघदूत नाम का एक काव्य बनाया। उसे वह बहुत से राजाओं को सुनाता फिरा। वह मदोन्मत्त कवि राजा अमोघवर्ष की सभा में भी आया और विद्वानों की अवमानना करके उसने राजा को अपना मेघदूत सुनाया। यह बात विनयसेन को अच्छी न लगी। अतएव कालिदास के अहङ्कार को चूर्ण करने और सन्मार्ग की उद्दीपना के लिए, विनयसेन के अनुरोध से, जिनसेनाचार्य्य ने उस सभा में कालिदास का परिहास करते हुए कहा कि पुराने काव्य की चोरी करने से तुम्हारा यह काव्य रमणीय हुआ है। यह सुनकर कालिदास क्रुद्ध हुए और बोले कि यदि ऐसा है तो वह पुरानी कविता सुनाओ। इस पर जिनसेन ने कहा कि यह काव्य यहाँ से बहुत दूर, एक नगर में, रक्खा है। उसे मैं मँगाता हूँ। आठ रोज़ में वह आ जायगा। तब मैं सुना दूँगा। यह बात कालिदास और दरबार के अन्य सभासदों ने मंजूर कर ली। इतने में जिनसेन ने

मेघदूत के एक एक दो दो चरणों से वेष्टित करके "पार्श्वाभ्युदय" नाम का काव्य बना डाला। आठवें रोज़ जब वे उसे सभा में सुना चुके तब कालिदास से यथार्थ बात उन्होंने कह दी और उनका बहुत कुछ सम्मान किया।

यह कथावतार नामक परिशिष्ट टीकाकार ने अपनी तरफ़ से इस काव्य के अन्त में लगा दिया है। श्रीयुत पन्नालाल बाकलीवाल ने इसे पार्श्वाभ्युदय के अन्त में ज्यों का त्यों रखकर इस काव्य को बम्बई से प्रकाशित कराया है। परन्तु पुस्तक के आरम्भ में, बाकलीवालजी की प्रार्थना पर, पूना के दक्षिण-कालेज के भूत-पूर्व संस्कृताध्यापक पण्डित काशिनाथ बापूजी पाठक, बी० ए० का लिखा हुआ एक छोटा सा उपोद्घात है। उसमें पाठक महाशय ने साफ़ साफ़ लिख दिया है कि टीकाकार का यह किस्सा सही नहीं, क्योंकि कालिदास जिनसेन के बहुत पहले हुए हैं। पाठक महाशय की इस सम्मति को पार्श्वाभ्युदय के प्रकाशक ने, बिना किसी काट-छाँट या टीका-टिप्पणी के, प्रकाशित कर दिया है। उनकी यह उदारता प्रशंसनीय है।

परन्तु हम देखते हैं कि इस आख्यायिका के आधार पर जैन-पण्डित, ऐतिहासिक तत्व पर हरताल लगाकर, कालिदास को जिनसेन का समकालीन बनाने और उनको अभिमानी—विद्वानों का अपमान करनेवाला सिद्ध करने

की चेष्टा कर रहे हैं। यह चेष्टा श्री-जैन-सिद्धान्त-भास्कर नामक त्रैमासिक पत्र के सम्पादक ने की है। आरा में कोई जैन-सिद्धान्त-भवन है। उसीकी उद्देश-सिद्धि के लिए यह पत्र निकला है। जैनियों के इतिहास से सम्बन्ध रखने-वाले लेख आदि प्रकाशित करने के लिए यह पत्र निकाला गया है। इस पत्र के सम्पादक महाशय ने पूर्वोक्त आख्या-यिका को नक़ल करके लिखा है—"विनयसेन के अनुरोध से कालिदास के अभिमान-दमनार्थ जिनसेन ने मेघदूत के श्लोकों को परिवेष्टित करते हुए पार्श्वाभ्युदय रचा"।

पार्श्वाभ्युदय की प्रस्तावना में काशिनाथ बापूजी पाठक की सम्मति को देखकर भी जैन-भास्कर के सम्पादक का ऐसा लिखना बड़े साहस का काम है। जो पत्र ऐतिहा-सिक खोज का फल प्रकाशित करने के लिए निकाला गया है उसमें ऐतिहासिक तत्वों का उद्घाटन बहुत सोच समझकर करना चाहिए। भास्कर के सम्पादक ख़ुद ही लिखते हैं कि पार्श्वाभ्युदय की—"पूर्ति लगभग शक संवत् ७३६ में हुई है"। अर्थात् यह काव्य लगभग ८१४ ईसवी का है। परन्तु—जैसा कि पाठक महाशय ने पार्श्वाभ्युदय की प्रस्ता-वना में लिखा है—इस समय के पहले के कवियों के लेखों में कालिदास का नाम आया है। शिला-लेखों और ताम्रपत्रों से यह निश्चित है कि थानेश्वर का राजा हर्षवर्द्धन सन्

ईसवी के सातवें शतक में त्रिपम
सत्याश्रय पुलकेशी ने हर्ष का पराभ
इसी हर्ष-वर्द्धन के आश्रय में थे।
कालिदास की प्रशंसा की है। यथा-

निर्गतासु न वा कस्य कालिदास
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव

अतएव सिद्ध हुआ कि का
पुराने हैं। इसके सिवा बीजापुर ज़िले
के गाँव में प्राप्त हुए शिला-लेख से भी पा
है। इस शिला-लेख में रवि-कीर्ति ना
कालिदास और भारवि का नाम लिया है
कि मैं इन दोनों के सदृश ही कीर्ति वाली हूँ-

येनायोजि न वेश्म

स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः

कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

इस शिला-लेख का समय शक-संवत् ५
६३४ ईसवी, है। यह समय भी इसी शिला-लेख में
है। देखिए—

पञ्चाशत्सु कलौ काले

समस्तु समर्तातासु
शकानामपि भूभुजाम् ॥

अतएव सिद्ध है कि कालिदास ६३४ ईसवी से पहले के हैं। फिर बतलाइए, ८१४ ईसवी में पार्श्वाभ्युदय को समाप्त करनेवाले जिनसेन के समकालीन वे कैसे हो सकते हैं?

जिनसेन के कोई ५०० वर्ष बाद पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार हुए हैं। उन्होंने पूर्वोक्त आख्यायिका को यौंही किसीसे सुनकर विक्रम और कालिदास, अकबर और बीरबल, की कहानियों की तरह लिख दिया है। वह समय ऐतिहासिक खोज का न था। बड़े बड़े कवियों और पण्डितों के सम्बन्ध की कहानियाँ धीरे धीरे कुछ का कुछ रूप प्राप्त कर लेती थीं। लोग उनके सत्यासत्य का निर्णय किये बिना ही उन्हें एक दूसरे से कहा करते थे। पण्डिताचार्य योगि-राट् की कही हुई पूर्वोक्त कहानी भी ऐसी ही जान पड़ती है। कालिदास के पद्यों को पार्श्वाभ्युदय में गुम्फित देखकर किसीने यह किस्सा गढ़ लिया होगा। टीकाकार महाशय के कान तक वही परम्परा से पहुँचा होगा। यदि टीकाकार का कथन सच होता तो जिनसेनाचार्य्य स्वयं ही उसका उल्लेख कर सकते थे। परन्तु उन्होंने पार्श्वाभ्युदय के अन्त में सिर्फ इतना ही लिखा है—

कालिदास ॥] ॥

> इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं
> बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
> मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं
> भुवनमवतु देवस्सर्वदाऽमोघवर्षः ॥ ७० ॥

इसके "मलिनितपरकाव्यं" पद से यही ध्वनि निकलती है कि इसकी रचना से मेघदूत मलिन हो गया। अर्थात् इसके सामने उसकी शोभा या सुन्दरता क्षीण हो गई। और कुछ नहीं। परन्तु जिनसेन की राय में उसके—"मलिनित" हो जाने पर भी दूसरी विलायतों तक में उसका प्रकाश पहुँच गया और पार्श्वाभ्युदय की विमलता की ज्योति जैन-भाण्डारों के भीतर ही चमकती रही।

सोचने की बात है कि टीकाकार के अनुसार जो जिनसेन "यमिकुञ्जर" "मुनीशान्" और "त्रैविद्याधीश्वराग्रणी" थे वे कालिदास से झूठ कैसे बोल सकते थे कि तुम्हारा काव्य पुराना है—तुमने चोरी की है। पुराने काव्य की कापी एक गाँव में रक्खी है; मैं आठ रोज़ में मँगाकर दिखा दूँगा।

हिन्दी के पत्रों और पुस्तकों में पुरातत्व-सम्बन्धी जो बातें प्रकाशित होती हैं उन पर इंडियन् एंटिकेरी और एशियाटिक सोसायटी के जरनलों में लिखनेवाले विद्वानों की नज़र नहीं पड़ती। यदि किसीकी पड़ती भी है और

उसे कोई बात उनमें भ्रमपूर्ण मालूम होती है तो भी वह बहुधा उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखकर चुप रह जाता है। इससे भ्रम का विस्तार और भी बढ़ता है। यही समझकर इस भ्रममूलक आख्यायिका के विरुद्ध इतना लिखने की आवश्यकता हुई। जैन पण्डित अपने आचार्य्यों की, अपने सिद्धान्तों की, अपने ग्रन्थों की खुशी से प्रशंसा करें। यह बात वे जैनेतरों की निन्दा न करके भी कर सकते हैं। जिनसेनाचार्य्य से कालिदास का दर्प-दलन न कराकर भी वे आचार्य्य महाराज की मनमानी स्तुति कर सकते हैं। प्राचीन जैन पण्डित जैनेतर विद्वानों के लिए "मद्दा निशाटा इव" इत्यादि वाक्य जो लिख गये हैं वही बहुत हैं। अधिक निन्दा करने की क्या आवश्यकता!

हाँ, एक बात कहना हम भूल ही गये। जैन-सिद्धान्त-भास्कर के सम्पादक कालिदास और जिनसेनाचार्य्य को सचमुच ही समकालीन समझते हैं। इस विषय के "पूरे प्रमाण" भी उनके पास मौजूद हैं। उन्होंने अपने भास्कर के प्रथम भाग की प्रथम किरण में लिखा है—

"यदि हो सकेगा तो भास्कर के अगले अङ्क में कविवर कालिदास और भगवज्जिन-सेनाचार्य्य की समकालीनता "पूरे प्रमाण" के साथ हम प्रकाशित करेंगे।"

कालिदास ।]

बड़ी अच्छी बात है ! कीजिए । 'यदि' क्यों ! प्रमाण प्रकाशित करने में रुकावट ही कौनसी हो सकती है ! यदि आप कालिदास को जिनसेन का समकालीन सिद्ध कर देंगे तो कालिदास का समय निश्चित करने का यश भी अवश्य ही आपको मिल जायगा ।

नवम्बर १९११ ।

३—कालिदास के समय का भारत।

श्रीयुत बाबू अरविन्द घोष का परिचय कराने की आवश्यकता नहीं। बहुत छोटी उम्र में वे विलायत गये थे। वहीं, केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। अँगरेज़ी के वे बड़े भारी विद्वान् हो गये। हिन्दुस्तान को लौट आने पर उन्होंने संस्कृत-साहित्य का भी अध्ययन किया और उसके गुणों पर मुग्ध होकर उसके पक्के पक्षपाती हो गये। कई साल हुए, उन्होंने मदरास के इंडियन-रिव्यू नामक अँगरेज़ी भाषा के मासिक पत्र में कालिदास के विषय में एक लेख प्रकाशित किया था। उस लेख से अरविन्द बाबू की असाधारण

विद्वत्ता और सूक्ष्म विचार-शक्ति का पता लगता है
वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के काव्यों का उन्होंने जो
भाव समझा है वह शायद ही और किसीके ध्यान में आय
होगा। उसी लेख का मतलब, टूटे-फूटे शब्दों में, नी
प्रकाशित किया जाता है।

वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के ग्रन्थों
प्राचीन भारत का इतिहास विद्यमान है। ये तीनों महा
आत्मा की भिन्न भिन्न तीन अवस्थाओं किंवा शक्तियों
उदाहरण हैं। ये शक्तियाँ नैतिक, मानसिक और पार
तिक हैं। इनके काव्यों में इन तीन प्रधान शक्तियों का प
विकास पाया जाता है। इन तीनों कवियों में असाध
कवित्व-शक्ति थी। इनमें अपने समय के मनुष्यों की
भिन्न अवस्थाओं की छोटी-बड़ी सभी घटनायें वर्णन कर
विलक्षण शक्ति थी। पश्चिमी दुनिया के प्रसिद्ध कवि
शेक्सपियर तथा दान्ते से इन तीनों की यथा-क्रम
की जा सकती है। इन तीनों कवियों के का
आर्य्य-जाति की सभ्यता-सम्बन्धिनी तीन अवस्थाओं के
ही सुन्दर चित्र देखने में आते हैं। वाल्मीकि के क
आर्यों की नैतिक अवस्था के चित्र हैं, व्यास के क
मानसिक अवस्था के, कालिदास के काव्यों में पार
अवस्था के। आत्मा की एक और अवस्था होती है
अथवा पारमार्थिक अवस्था कहते हैं

अवस्था में पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं के गुणों का एकत्र समावेश होता है। इन तीनों अवस्थाओं का इतिहास आध्यात्मिक शक्ति का पूरा प्रभाव प्रकट करता है। परन्तु इस चौथी शक्ति का कोई विशेष समय-विभाग नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारत के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब केवल आध्यात्मिक शक्ति ही की प्रधानता रही हो।

रामायण में एक आदर्श-समाज का चित्र है। इससे, बहुत लोग अनुमान करते हैं कि उसकी कथा बनावटी है। परन्तु यह अनुमान युक्ति-सङ्गत नहीं। आदर्श-रूप में जन-समाज का परिणत होना रामायण से साबित होता है। किसी कवि में यह सामर्थ्य नहीं देखा गया कि वह इतनी बारीकी और योग्यता से केवल अनुमान द्वारा इतना बड़ा और इतना अच्छा चित्र बना सका हो। ऐसा करने की चेष्टा करनेवाला अवश्य ही कोई न कोई भयानक भूल कर बैठेगा। ख़ैर। इस जगह वाल्मीकि के समय या उनके काव्य की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, यहाँ पर, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि रामायण के उत्तर-काण्ड में बहुतसी कथायें पीछे से जोड़ी गई मालूम होती हैं। पर वे आसानी से अलग कर दी जा सकती हैं। बाक़ी का सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही विद्वान् का बनाया हुआ जान पड़ता है। घटना-क्रम से मालूम होता है कि वाल्मीकि-

रामायण की रचना व्यास के महाभारत से पहले की है,
और वे कृष्ण तथा महाभारत में वर्णन किये गये अन्य लोगों
के बहुत पहले विद्यमान थे। किन्तु काव्य की रचना और
उसमें उल्लिखित कई विषयों पर विचार करने से प्रतीत होता
है कि वाल्मीकि की रचना के समय भी देश की राजनैतिक
और सामाजिक अवस्था वैसी ही थी जैसी व्यास के समय
में थी। मतलब यह कि वाल्मीकि का प्रादुर्भाव उस समय
हुआ था जिस समय क्षत्रिय-नरेश अपने बल के अभिमान
से प्रेरित होकर अपने मनोऽनुकूल नैतिक नियमों का सर्व
प्रचार करना चाहते थे। अतएव उनकी मनमानी राजनीति
के विरुद्ध, जिस समय, देश में घोर आन्दोलन होनेवाला
था, व्यास ने महाभारत में जरासन्ध के मुख से उस स्थिति
का वर्णन कराया है और वाल्मीकि ने राम के मुख से उसका
बार बार प्रतिवाद कराया है। ये नीति-नियम, बड़े लो
के चरित्र-सम्बन्धी नियमों की तरह, वीरता और सच्चरित्र
के सूचक थे। परन्तु पुरुषों की सच्चरित्रता के सम्बन्ध में
नियम कुछ कमज़ोर थे। समाज का नियमन कराने
और भी इनका झुकाव था। वाल्मीकि का स्वभाव बहुत
शुद्ध और धार्मिक था। वे बड़े ही प्रतिभावान् और उत्स
थे। उन्हें इन नियमों की कमज़ोरी और उद्दण्डता खट
लगी। यदि वे चाहते तो, अन्यान्य बुरी और नीति-वि

बातों की तरह, इस पर भी चुप हो रहते। परन्तु यह बात उन्हें पसन्द नहीं आई। इसीसे उन्होंने बहुत पुराने ज़माने के एक अनुकरणीय, उन्नत और धार्मिक समाज की शरण ली। इससे उनको सभ्यता का एक बहुत बड़ा चित्र बनाने के लिए पूरा मसाला मिल गया। उन्होंने अपने ग्रन्थ में विलक्षण कवि-कौशल से दो प्रकार के जन-समाज के चित्र बनाये हैं। दोनों ही चित्र अपनी अपनी पूर्णता की परम सीमा तक पहुँचाये गये हैं। एक चित्र तो एक ऐसे आदर्श-समाज का है जिसमें समाज को उन्नत करने और उसका गौरव बढ़ानेवाली सामग्रियों का बहुत ही उत्तम रीति से उपयोग किया जाता है। दूसरा चित्र एक ऐसे अमानुषिक समाज का है जहाँ बल, अत्याचार, लोभ, अभिमान, इच्छा-स्वातन्त्र्य आदि का ही साम्राज्य है। कवि ने राम और रावण को इन्हीं दोनों तरह के समाजों के आदर्श पुरुष मान कर उनके युद्ध का परिणाम दिखाया है। रामायण की रचना इसी तरह की है। वाल्मीकि का यह काव्य बहुत ही अच्छा है। कविता के श्रेष्ठ गुणों से यह युक्त है। यह बात सच है कि सब लोग इसके यथार्थ आशय को नहीं समझ सकते। किन्तु जिन्होंने इसका तत्व समझा है वे संसार के अन्य किसी काव्य को इससे ऊँचा स्थान कभी देने के नहीं।

तात्पर्य्य यह कि वाल्मीकि-रामायण में एक विशुद्ध

नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक, दोनों, शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही साथ उन शक्तियों को, स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ धार्मिक जीवन के कार्यों का सहायक बनाने की आवश्यकता भी बतलाई गई है। तथापि वाल्मीकि ने निष्काम-धर्म का उपदेश कहीं भी नहीं किया। इस धर्म की शिक्षा महाभारत ही में पूरी तरह दी गई है। वाल्मीकि के पात्र सारे काम मानसिक उत्तेजना से करते हैं, दोषादोषज्ञ की बुद्धि से नहीं। धर्म की उत्तेजना ही राम से सब काम कराती है और अधर्म की उत्तेजना रावण को अत्याचार में प्रवृत्त करती है। वाल्मीकि ने पुराने धार्मिक नियमों को ही सर्वत्र फैलाने की चेष्टा की है। उन नियमों में अपनी ओर से कुछ फेरफार करना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। इसीसे वाल्मीकि का काव्य उस समय की नैतिक अवस्था का श्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है, जिस समय हिन्दुओं में वीरता का पूर्ण विकास था।

व्यास वाल्मीकि के बाद हुए हैं। उस समय देश में और भी अधिक अशान्ति फैली हुई थी। उस अशान्ति से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कथायें सुनने में आती हैं। यदि सच हो तो यह अवश्य ही मान लेना पड़ेगा कि वाल्मीकि के आदर्श के अनुसार, ब्राह्मण-क्षत्रिय का

और समाज का संस्कार करने में व्यास ने बहुत सहायता की है। व्यास बड़े आदमियों की उस राजनीति के प्रचार के पक्षपाती थे जो देश के प्रधान पुरुषों के मनोऽनुकूल थी। वे चाहते थे कि देश में एक ऐसा साम्राज्य स्थापित हो जो उच्च प्रवृत्ति का उदाहरण समझा जा सके और जो नीच प्रवृत्ति को दबाने या उसको दूर करने में समर्थ हो। वाल्मीकि और व्यास के विचारों में अन्तर है। वाल्मीकि ने देश की सामयिक स्थिति का ख़याल न करके प्राचीन समय के आदर्शों को ग्रहण किया। पर व्यास का सारा लक्ष्य अपने ही समय की स्थिति पर था। उसके साथ सहानुभूति दिखाते हुए वे उसे, कुछ समयान्तर, आदर्श-रूप में परिणत करने की आशा रखते थे। वाल्मीकि पुराने और प्रतिष्ठित राजनियमों के पक्षपाती थे। वे समाज को प्राचीन समय के आदर्श पर ले जाना चाहते थे। किन्तु व्यास राजनीति के नवीन संस्कार के पक्षपाती थे। इसीसे उन्होंने प्रचलित नियमों का विरोध नहीं किया। उन्होंने उन नियमों को भावी संस्कार का आधार माना और निष्काम-धर्म की शिक्षा से उन्हें आदर्श-रूप में परिणत किया।

व्यास का बुद्धि-बल बड़ा प्रबल था। ध्यान, धारणा, अध्यात्म-विद्या और नैतिक विचारों में उनका मन बहुत लगता था। उन्होंने प्रचलित नीति-नियमों की परीक्षा

धर्म्माधर्म्म की दृष्टि से की और बहुत ही उत्तम रीति से उनका सुधार किया। उन्हीं नियमों के आधार पर उन्होंने ऊँचे दरजे के नियम बनाये। राज-शासन और समाज, दोनों को, उन्होंने श्रेष्ठ आदर्श तक पहुँचाया। उन्होंने एक एक करके सभी विषयों का संस्कार नये ढँग से किया। उनकी विचार-दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। उसकी बदौलत उन्होंने सभी विषयों का संस्कार किया। उन्होंने अपने समय की सभ्यता को हम लोगों के सामने आईने की तरह रख दिया है। उस सभ्यता में नैतिक और भौतिक दोनों ही अवस्थाओं पर बुद्धि-बल का पूरा प्रकाश दिखाई देता है। महाभारत के सब पात्रों में, सब जगह, बुद्धि-बल की ही प्रधानता देखी जाती है। वे लोग प्रत्येक काम मन की प्रबल उत्तेजना से करते हैं। इसीसे उनके कार्य्य-कलाप के चिह्न, पत्थर पर लकीर की तरह, साफ़ नज़र आते हैं। इस प्रबल मानसिक शक्ति का माहात्म्य महाभारत में सब जगह उसी तरह पाया जाता है जिस तरह रामायण में धर्म्म और अधर्म्म की उत्तेजना का माहात्म्य। महाभारत के सब पात्रों को कवि ने भिन्न भिन्न प्रकार की मानसिक उत्तेजना के बल से ही सभ्यता की राह पर पहुँचाया है। इसीसे उसमें रामायण की अपेक्षा युद्ध की बातें अधिक देखने में आती हैं; शक्ति की बातें बहुत ही कम पाई जाती हैं।

व्यास के कोई हज़ार वर्ष बाद कालिदास उत्पन्न हुए। उन्होंने भी अपने समय की सामाजिक अवस्था के बहुत ही अच्छे चित्र खींचे हैं। वाल्मीकि और व्यास के समय के बीच जितनी घटनायें हुई थीं उनसे कहीं अधिक घटनायें कालिदास और व्यास के समय के बीच में हुईं। कालिदास का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब देश में सब जगह पैशाचिक भाव फैला था और जब उसे दबाने के लिए बौद्धमत की सृष्टि हो चुकी थी। सार्वजनिक कामों में सर्वत्र शिथिलता दिखाई देती थी। लोग प्रत्येक विषय के नियम बनाने की धुन में थे। दर्शन-शास्त्र नियमबद्ध हुआ, धर्म्म-शास्त्र और नीति शास्त्र के नियम बने, विद्या और ज्ञान के जितने विषय हैं सभी नियम-बद्ध हुए। इस समय एक ओर तो बड़े बड़े विद्वानों, नीति-शास्त्रियों, नैयायिकों, और दार्शनिक तत्त्व-वेत्ताओं के ग्रन्थ बन रहे थे। दूसरी ओर जातीय उत्साह और सांसारिक जीवन के सौन्दर्य्य के विषय में काव्यों की रचना हो रही थी। लोगों के जीवन में विलासिता घुस गई थी। वे जीवन और सौन्दर्य्य ही को सब कुछ समझने लगे थे—उनका उन्हें बड़ा अभिमान था। चित्रकारी, गृहनिर्माण-विद्या, सङ्गीत, नाट्य-कला, वनस्पति-शास्त्र, आदि विलासिता की सूचक सभी विद्यायें उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाई गई थीं।

यह बात ठीक ठीक समझ में नहीं आती कि ऐसी प्रवृत्ति ग्रीक लोगों की सभ्यता की बदौलत उत्पन्न हुई थी या बौद्ध लोगों की सभ्यता की बदौलत। बहुत करके बौद्ध लोग इसके जन्मदाता नहीं हैं। ग्रीक लोगों के विलास-प्रिय जीवन का ही यह फल होगा। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि यह परिवर्तन एकाएक हुआ हो। पहले समय से इस समय के अलगाव की सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। ऐसा निश्चय करना मानों मनुष्य की उन्नति के प्राकृतिक नियमों का विरोध करना है। इस समय की प्रत्येक विद्या और शिल्प-कला किसी न किसी रूप में प्राचीन भारत में भी विद्यमान् थी। प्राचीन समय में भी क़ानून थे। शिल्प और नाटक की उत्पत्ति भी बहुत प्राचीन समय में हुई थी। योग की क्रिया तो बहुत पहले से वर्तमान् थी। पाश्चमीतिक जीवन के भी जो चित्र रघुवंश में हैं उनसे कहीं अच्छे चित्र रामायण और महाभारत में दिखाये गये हैं। किन्तु भेद इतना ही है कि पहले ये बातें किसी किसी श्रेष्ठ कल्पनावाले विद्वान् के द्वारा होती थीं, पर कालिदास के समय में ये प्रधानता से फैल गई थीं, अच्छे अच्छे लोग अपना धन-सौरव इन्हीं कामों में व्यय करते थे। इस उत्तेजना की बदौलत, बौद्ध-धर्म के विकास से शङ्कराचार्य्य के प्रादुर्भाव के बीच की शताब्दियों में, लोगों का जीवन बहुत ही

विज्ञानमूलक और सांसारिक हो गया था। आत्मविद्या में भी सांसारिक भाव प्रवेश कर गया था। परन्तु चारवाक के मत को लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। अतएव नास्तिकता ने बहुत ज़ोर नहीं पकड़ा था। इसी समय आत्मविद्या, विज्ञान, राजनीति, और अनेक शिल्प-कलाओं के नियम बनाये गये थे।

इसी ज़माने के शुरू में, यहाँ, दर्शन-शास्त्र के नियम बन रहे थे और शिल्प और विज्ञान की उन्नति हो रही थी। उपनिषदों के आधार पर पुराणों की रचना हो रही थी। वेदान्त और सांख्य के उत्तम सिद्धान्तों का मेल योग की क्रियाओं और न्याय-सम्बन्धी विचारों के साथ होने लगा था। किन्तु ये काम पूर्ण नहीं होने पाये थे कि उज्जयिनी में कालिदास प्रकट हुए। उन्होंने लोगों की सामयिक प्रवृत्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त किया था। उनके काव्यों से मालूम होता है कि वे बड़े भारी विद्वान् थे। उनका सम्बन्ध बड़े बड़े विद्वानों से था। वे हमेशा अमीरों के साथ रहा करते थे। ऐशो-आराम से रहना उन्हें बहुत पसन्द था। शिल्प और विज्ञान का उन्हें अच्छा ज्ञान था। राजनीति के वे पूरे पण्डित थे। दर्शन-शास्त्र में भी उनकी अच्छी गति थी। कई बातों में वे शेक्सपियर के समान थे। शेक्सपियर की तरह वे भी कुछ दिन पहले की घटनाओं को सामयिक रूप

देकर उनका वर्णन करते थे। सामयिक घटनाओं का उल्लेख करते समय कभी कभी उनके भावी फल को भी वे झलका देते थे। शेक्सपियर की तरह धर्म्म का भी उन्हें ख़ूब ख़याल था।

वेदान्त पर कालिदास का पूरा विश्वास था। पर आचरण उनका शैवों के सदृश था। मालूम होता है कि उन्होंने अपने समय और देश की प्रथा के अनुसार ही ऐसा आचरण ग्रहण किया था, धार्मिक बुद्धि से नहीं। वे स्मृतियों के सिद्धान्तों को भी मानते थे और उनकी प्रशंसा भी करते थे। परन्तु उनका आत्मिक चरित्र उतना अच्छा नहीं मालूम होता। उनके बुरे चाल-चलन के विषय में बहुतसी बातें सुनी जाती हैं। उन्हें हम सत्य नहीं भी मान सकते हैं। किन्तु, कालिदास के काव्यों को देखकर कोई भी पक्षपात-रहित पाठक यह न कह सकेगा कि कालिदास धर्म्मानुरागी अथवा धार्मिक नियमों की पाबन्दी करनेवाले थे। उनके काव्यों में श्रेष्ठ आदर्श और अच्छे विचारों की प्रशंसा है, पर यह प्रशंसा काल्पनिक है। उनके अच्छे विषयों के वर्णन से केवल उनकी कल्पना-शक्ति की श्रेष्ठता मात्र साबित होती है। इसका प्रभाव भी अच्छे लोगों की ही कल्पना-शक्ति पर पड़ सकता है। वाल्मीकि और व्यास के काव्यों की तरह उनके काव्यों में चरित्र सुधारने की शक्ति नहीं है। कालिदास की

स्वाभाविक प्रवृत्ति सौन्दर्य्य की ओर है। सौन्दर्य्य-वर्णन में उन्होंने जैसी सफलता प्राप्त की है वैसी और किसी विषय के वर्णन में नहीं।

कालिदास की तर्कना-शक्ति बहुत ही अच्छी थी। शृङ्गार और करुण-रस के वर्णन में वे सिद्धहस्त थे। कालिदास में प्रधान गुण यह था कि वे प्रत्येक काव्योपयोगी सामग्री को—काव्य के प्रत्येक अंश को—बड़े ही कौशल से सुन्दर बना देते थे। अपने वर्णनीय विषय की मूर्ति पाठकों के सामने खड़ी कर देने की जैसी शक्ति कालिदास में थी वैसी और किसी कवि में नहीं पाई जाती।

बड़े बड़े कवि जब बहुत उत्तेजित होकर किसी बात का वर्णन करने लगते हैं तभी उनमें उस बात को प्रत्यक्षवत् दिखा देने की शक्ति आती है। पर कालिदास में यह विलक्षण शक्ति सब समय वर्तमान रहती थी। इसी शक्ति के साथ अपनी सौन्दर्य्य-कल्पना की सर्व्व-श्रेष्ठ शक्ति को मिलाकर वे काव्यचित्र बनाया करते थे। वे जैसे उत्तम विषय की कल्पना कर सकते थे वैसे ही उसे खूबसूरती के साथ सम्पन्न भी कर सकते थे। भाषा और शब्दों के सौन्दर्य्य तथा उनकी ध्वनि और अर्थ आदि का भी वे बड़ा ख़याल रखते थे। उन्होंने संस्कृत-भाषा के भाण्डार से बहुतही ललित छन्दों और भाव-पूर्ण सरस शब्दों को चुन

सुनकर अपनी कविता के काम में लगाया है। इससे उनकी रचना देववाणी की तरह मालूम होती है। कालिदास की भावोद्बोधन-शक्ति ऐसी अच्छी थी कि पिछले हज़ार वर्ष के संस्कृत-साहित्य में सर्वत्र उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। उनकी कविता में संक्षिप्तता, गम्भीरता और गौरव—तीनों बातें पाई जाती हैं। भाषा की सुन्दरता और प्रसङ्गानुकूल शब्दों की योजना से उनकी रचना का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य और भी बढ़ गया है। यों तो कालिदास ने सभी विषयों का वर्णन, बड़े ही ललित शब्दों में, किया है। पर उनके ऐतिहासिक काव्य और नाटक बहुत ही अच्छे हैं। ऐतिहासिक काव्य-रचना में कालिदास मिल्टन से भी बढ़ गये हैं। उनके नाटकों की भाषा में असाधारण सुन्दरता और मधुरता है। वह भाषा बोलचाल में व्यवहार करने लायक है। कालिदास को इन्हीं श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर ऐसे समय में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके साथ उनकी स्वाभाविक सहानुभूति थी। उस समय की सभ्यता उनके वर्णन करने की रुचि के अनुकूल थी। वह सभ्यता विलासिता में, सौन्दर्य्य और शिल्प की रुचि में, शिष्टाचार में, सांसारिक विषयों के सूक्ष्म ज्ञान में, और विद्या तथा बुद्धि को बहुत आदर की दृष्टि से देखने में, योरप की सभ्यता से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। फ्रान्स में, चौदहवें लुई के राज्य-

काल में, जैसी धार्मिक और नैतिक चर्चा होती थी वैसी ही भारतवर्ष में कालिदास के समय में होती थी। उस समय धर्म केवल शिव की उपासना करने और लोगों को दिखाने के लिए था; चाल-चलन के सुधार के लिए नहीं। उस समय किसी धर्म-सम्प्रदाय का अनुयायी न होना बुरा समझा जाता था; पर विलासिता या विषय-वासना में लिप्त होना बुरा नहीं समझा जाता था। उस समय के राजा भी बड़े विलासी थे। राज्य में शान्ति बनी रखने और वंश-परम्परागत सत्यतानुयायी नियमों का पालन करने की इच्छा से ही राजाओं के दरबार में धार्मिक और नैतिक बातों का तदनुकूल समर्थन होता था; धार्म्मिक या नैतिक बुद्धि की प्रेरणा से नहीं। अच्छी कविता में वर्णन किये गये धार्मिक विचार सुनकर वे उतने ही प्रसन्न होते थे जितने कि विषय-वासना का वर्णन सुनकर होते थे। इस समय धर्म की ओर लोगों का ध्यान पहले की अपेक्षा बहुत कम था। शराब पीने की आदत बहुत बढ़ गई थी। स्त्री-पुरुष दोनों खुल्लम-खुल्ला शराब पीते थे। चरित्र की शुद्धता की तरफ भी लोगों का बहुत कम ध्यान था। तो भी, अच्छे घरों की स्त्रियों को पातिव्रत का बहुत खयाल था। इससे व्यभिचार बहुत नहीं बढ़ सका और गृहस्थाश्रम-धर्म्म में खराबी नहीं पैदा हुई। इतिहास से पता लगता है कि दूसरे देशों में जब जब समाज

कालिदास के समय में शिल्प-कलायें खूब उन्नत थीं। इससे प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन की चाह बहुत बढ़ गई थी। पहाड़ों और जङ्गलों की शोभा, झीलों और नदियों की रमणीयता, पशुओं और पक्षियों के जीवन की मोहकता पर लोग मुग्ध होने लगे थे। इसके सिवा बौद्धमत के प्रभाव से लोग वृक्षों, लताओं और पहाड़ों को भी जीवधारी समझने और पशु-पक्षियों में भी भ्रातृभाव की स्थापना करने लगे थे। इन कारणों से कालिदास को सौन्दर्य-वर्णन में बहुत सहायता मिली। उन्होंने अपने अपूर्व कवि-कौशल से अनूठे अनूठे पौराणिक दृश्यों पर नये नये बेलबूटे काढ़कर उनकी सुन्दरता और भी बढ़ा दी। आँख, कान, नाक, मुँह, आदि ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति के विषय, तथा कल्पना और प्रवृत्ति, यही बातें काव्य-रचना के मुख्य उपादान हैं। कालिदास ने इन सामग्रियों से एक आदर्श-सौन्दर्य की सृष्टि की है। कालिदास के काव्यों में स्वर्गीय सौन्दर्य की आभा झलकती है। वहाँ सभी विषय सौन्दर्य के शासन के अधीन हैं। धार्मिक भाव और बुद्धि भी सौन्दर्य-शासन में रक्खी गई है। परन्तु, इतने पर भी, कालिदास की कविता अन्यान्य सौन्दर्य-उपासना-पूर्ण कविताओं के स्वाभाविक दोषों से बची हुई है। अन्य कविताओं की तरह उनकी कविता धीरे धीरे कमज़ोर नहीं होती गई। उसमें दुराचार की

प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। वह अपनी नायिकाओं की काली कुटिल अलकों और भ्रूभङ्गियों में अत्यन्त उलझी हुई नहीं जान पड़ती। कालिदास की रचना इन सब दोषों से बची हुई है। समुचित शब्दों के प्रयोग और काव्य के चमत्कार की ओर ही उनका अधिक ध्यान था।

रामायण और महाभारत में, हम लोग, उनमें वर्णन किये गये पात्रों को धर्म्म या अधर्म्म की बुद्धि से उत्तेजित होते देखते हैं। उसी तरह कालिदास के पात्रों के वाक्य-प्रयोग और, और कार्य्यों से भी, मानसिक उत्तेजना प्रकट होती है। कालिदास के सारे पात्र सुख-प्राप्ति के इच्छुक थे। प्रत्येक विषय में वे सुख की कल्पना करते थे। वे प्रेम से उन्मत्त और शोक से विह्वल हो जाते थे। विषय-वासना में वे एकदम लिप्त थे। सुन्दरता की उन्हें बहुत चाह थी। इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि कालिदास के समय में लोगों की आध्यात्मिक शक्ति बहुत कुछ शिथिल हो गई थी। उस शक्ति के बल से आत्मज्ञान प्राप्त करना उनके लिए असम्भव सा हो गया था। इसी कारण वे प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की सहायता से, ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा से ही, ऐसा करते थे।

यह समय वैष्णव-धर्म्म के विकास का था। इस धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाले पुराणों की रचना हो रही थी।

इस धर्म्म में ईश्वर से वैसा ही प्रेम करने की शिक्षा मनुष्य को दी गई है जैसा प्रेम प्रेयसी को अपने प्रेमी से होता है। शैव धर्म्म का तवतक प्रादुर्भाव न हुआ था। किन्तु कालिदास के काव्यों से पता लगता है कि बुद्धिमानों के मानस-क्षेत्र में उसका अंकुर उग चुका था।

कालिदास का कुमार-सम्भव बहुत ही उत्तम काव्य है। उसमें शिव और पार्व्वती के विवाह की कथा है। वास्तव में कवि ने उसमें पुरुष और प्रकृति के संयोग का चित्र दिखाया है। इस काव्य में कवि ने यह भी स्पष्टता-पूर्वक दिखाया है कि जीवात्मा किस तरह ईश्वर की खोज करता है और कैसे उसे प्राप्त करता है। इस तरह कवि ने धर्म्म-सम्बन्धी दो बड़े भारी आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों को, स्त्री-पुरुष के चरित्र के व्याज से, प्रकट कर दिखाया है। सांसारिक विषयों के वर्णन का यह बहुत ही अच्छा ढंग है। इस पर विचार करने से मालूम होता है कि वैष्णव-धर्म्म-सम्बन्धी पुराणों में जिस सिद्धान्त का पीछे से विकाश हुआ उसे कालिदास ने पहले ही झलका दिया था। इसीसे पहले कहा जा चुका है कि कालिदास, कभी कभी, वर्तमान् समय की घटना का वर्णन करते समय, उसके भावी परिणाम को भी झलका दिया करते थे। इस बात से यह भी समझा जा सकता है कि सांसारिक विषयों

में लिप्त होने पर भी, मैंझले ज़माने के भारतवासियों में, धार्मिक और दार्शनिक बातों की कल्पना की शक्ति कितनी थी।

ऋतु-संहार में कालिदास के समय की सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था का चित्र है। रघुवंश, वीर-चरित्र-सम्बन्धी काव्य है। मेघदूत शोक-सङ्गीत का उदाहरण है। शकुन्तला नाटक-सम्बन्धी चित्र है और कुमार-सम्भव धार्मिक और दार्शनिक कथा है। कालिदास ने अपने समय की सभ्यता के अनेक तरह के चित्र अपने काव्यों में दिखाये हैं। इसीसे, वाल्मीकि और व्यास की तरह ये भी अपने समय की सभ्यता के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार हज़ारों वर्ष में भारत ने विविध विषयों का अनुभव प्राप्त किया। किन्तु दुःख का विषय है, दुर्भाग्य-वश, उसे इस अनुभव से लाभ उठाने का अवसर न मिला। इसके बाद ही चौथी अवस्था आती, जिसमें पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं का एकत्र समावेश होता। पर इसके पहले ही असभ्य लोगों का आक्रमण उस पर आरम्भ हो गया। इस विपत्ति में पड़ जाने से उसका सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। शङ्कराचार्य्य ने इस चौथी अवस्था की नींव डाली थी। उन्होंने साकार मत को सिद्ध करके, ईश्वरोपासना

को ऊँचे शिखर पर चढ़ाना चाहा था। भवभूति के नाटकों से भी इस बात का पता लगता है। उसके पात्रों की चित्त-वृत्ति विकार-रहित है। वे विषय-वासना में लिप्त नहीं। विषय-वासना से अलग रखकर वे आत्मतत्त्व के विचार में निमग्न किये गये हैं। विषय-वासना भी सच्चरित्रता के अधीन रक्खी गई है, और फिर से सामाजिक जीवन निर्मल और संयमशील बनाया गया है। उस समय ऐसे संस्कार की अतीव आवश्यकता थी। किन्तु यह काम अच्छी तरह शुरू भी नहीं हुआ था कि विघ्न पड़ गया। अतएव भारत उसी विषयासक्त समाज के बचे-खुचे निकम्मे लोगों को लेकर ही पुनः अपना सामाजिक-जीवन क़ायम रखने को मजबूर हुआ। शङ्कराचार्य्य बहुत थोड़ा काम करने पाये। तथापि जो कुछ वे कर गये उससे भारत का बहुत उपकार हुआ है। उसीके बल से भारत का सामाजिक जीवन अभी तक बना हुआ है। नहीं तो असीरिया, ईजिप्ट, ग्रीस, रोम आदि देशों की पुरानी सभ्यता जैसे नष्ट हो गई वैसेही भारत की सभ्यता भी नष्ट हो जाती। योरप की सभ्यता में भी यदि धार्मिकता न आई तो थोड़े ही दिनों में वह भी अवश्य ही नष्ट हो जायगी। यह शङ्कराचार्य्य और उनकी दिखलाई हुई राह को प्रशस्त करनेवाले महानुभावों

कालिदास।]

की कृपा का ही फल है जो हमारे देश की सभ्यता का बीज अधपका बना हुआ है।

भारत ने अपने उस काम को जिस जगह पर छोड़ दिया था उस जगह से क्या फिर भी वह उसे आगे बढ़ा सकेगा? हमें तो ऐसी आशा नहीं।

जून १९११।

४–कालिदास की विद्वत्ता।
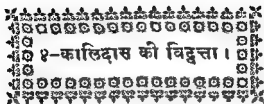
कवित्व-शक्ति।

लिदास ने यद्यपि अपने जन्म से भारत ही को अलंकृत किया, तथापि वे अकेले भारत ही के कवि नहीं। उन्हें इस भूमण्डल का महाकवि कहना चाहिए। उनकी कविता से भारतवासियों ही को आनन्द-वृद्धि नहीं होती। उसमें कुछ ऐसे गुण हैं कि अन्य देशों के निवासियों को भी उसके पाठ और परिशीलन से वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि भारतवासियों को मिलता है। जिसमें जितनी

वर्णन का ढँग बड़ा ही सुन्दर और हृदयस्पर्शी है। व्याकरण, ज्योतिष, अलङ्कार-शास्त्र, नीतिशास्त्र, वेदान्त, सांख्य, पदार्थ-विज्ञान, इतिहास, पुराण आदि जिस शास्त्र, जिस विद्या और जिस विषय में उन्हें जो बात अपने मतलब की देख पड़ी है उसीको वहाँ से खींचकर उसके उपयोग द्वारा उन्होंने अपने मनोभावों को, मनोहर से मनोहर रूप देकर, व्यक्त किया है।

कालिदास और शेक्सपियर।

रचना-नैपुण्य और प्रतिभा के विकाश-सम्बन्ध में कालिदास की बराबरी का यदि और कोई कवि हुआ है तो वह शेक्सपियर ही है। भिन्न भिन्न देशों में जन्म लेकर भी सारे संसार को अपने कवित्व-कौशल से एकसा मुग्ध करनेवाले यही दो कवि हैं। इनकी रचनायें इस बात का प्रमाण हैं कि इन दोनों के हृदय-क्षेत्र में एक ही सा कवित्व-बीज वपन हुआ था। इनके विचार, इनके भाव, इनकी उक्तियाँ अनेक स्थलों में परस्पर लड़ गई हैं। जिस वस्तु को जिस दृष्टि से कालिदास ने देखा है प्रायः उसी दृष्टि से शेक्सपियर ने भी देखा है। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में भिन्न भिन्न स्वभाववाले मनुष्यों के भिन्न भिन्न चित्र अङ्कित किये हैं कालिदास ने भी ठीक वैसा ही किया है। जिसका जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही चित्र उन्होंने उतारा है।

जिस कार्य्य का परिणाम जैसा होना चाहिए उसका वैसा ही निदर्शन उन्होंने किया है। प्रेमियों की जो दशा होती है, उनके हृदय में जिन विकारों का प्रादुर्भाव होता है, वे अपने प्रेम-राज्य को जिस दृष्टि से देखते हैं—कालिदास और शेक्सपियर दोनों के नाटकों में इन बातों का सजीव चित्र देखने को मिलता है। शेक्सपियर के मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट, मिरंडा और डेसडेमोना आदि के चित्रों का मिलान कालिदास के दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरूरवा, शकुन्तला, प्रियंवदा आदि के चित्रों से करने पर यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि इन दोनों महाकवियों को मानव स्वभाव का कितना तलस्पर्शी ज्ञान था। कहीं कहीं पर तो इन महाकवियों के नाटक-पात्रों ने, तुल्य प्रसङ्ग आने पर, ठीक एक ही सा व्यवहार किया है। शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त कहता है—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं, हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।

रोमियो भी जूलियट के विषय में प्रायः यही कहता है—

She will not stay the seige of loving terms,
Nor bide the encounter of assailing eyes.

शेक्सपियर और कालिदास में यदि कुछ भेद-भाव तो यह है कि कालिदास प्रकृति-ज्ञान में अद्वितीय थे

और शेक्सपियर मानव-मनोभाव-ज्ञान में। मानव-जाति के मनोभावों का जैसा सजीव चित्र शेक्सपियर ने चित्रण किया है वैसा ही कालिदास ने प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण किया है। कालिदास बहिर्जगत् के चित्रकार या व्याख्याता थे और शेक्सपियर अन्तर्जगत् के। मानवी मनोविकारों का कोई भेद शेक्सपियर से छिपा नहीं रहा। उसी तरह सृष्टि में जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं—जितने प्राकृतिक दृश्य हैं—उनका कोई भी रहस्य कालिदास से छिपा नहीं रहा। कवित्व-शक्ति दोनों में ऊँचे दरजे की थी, परन्तु एक की शक्ति अन्तर्जगत् के रहस्यों का विश्लेषण करने की तरफ विशेष झुकी हुई थी; दूसरे की बहिर्जगत् के। इस निष्कर्ष से सब लोग सहमत हों या न हों, परन्तु इन दोनों महाकवियों की रचनाओं को खूब ध्यान से पढ़ने और उन पर विचार करनेवाले इस बात से अवश्य सहमत होंगे कि कालिदास की तुलना यदि किसी महाकवि से की जा सकती है तो शेक्सपियर ही से की जा सकती है।

कालिदास और भवभूति।

भवभूति भी नाटक-रचना में सिद्धहस्त थे। करुणरस का जैसा परिपाक इनकी कविता में देखा जाता है वैसा किसी अन्य कवि की कविता में नहीं देखा जाता। मानवी हृदय के अन्तर्गत-भावों को जान लेने और उनके

शब्द-चित्र बनाकर तद्द्वारा उन्हें सामाजिकों को हृदयङ्ग करा देने की विद्या भवभूति को खूब ही साध्य थी। करुण रस का—यत्र तत्र शृङ्गार और वीर का भी—भवभूति ने जा जहाँ उत्थान किया है वहाँ वहाँ घटना-क्रम के अनुसार उ रस का धीरे धीरे तूफ़ान सा आया है। कालिदास ने जिस बात को बड़ी ख़ूबी के साथ थोड़े में कह दिया है उसीको भवभूति ने बेहद बढ़ाया है। मनोभावों का बढ़ाकर वर्णन करना कहीं अच्छा लगता है, कहीं नहीं अच्छा लगता देश, काल, पात्र और अवस्था का ख़याल रखकर प्रसङ्गोपात्त विषय का आकुञ्चन किंवा प्रसारण किया जाना चाहिए। युद्ध के लिए किसीको उत्तेजित करने के लिए वीर-रस-परिपोषक लम्बी वक्तृता असामयिक और अशोभित नहीं होती। परन्तु जो मनुष्य इष्ट वियोग अथवा अन्य किसी कारण से व्यथित है उसके मुख से निकली हुई धाराप्रवाही वक्तृता अस्वाभाविक मालूम होती है। थोड़े में अपनी व्यथा-कथा कहकर चुप हो जाना ही व्यथा की गंभीरता का दर्शक है। शकुन्तला के वियोग में दुष्यन्त ने, और मालती के वियोग में माधव ने, जो कुछ कहा है वह इस बात का प्रमाण है कि जिस बात को भवभूति बड़े बड़े श्लोकों में, लम्बे लम्बे समासों और चुने हुए शब्दों में, कहकर भी पाठकों का उतना मनोरञ्जन न कर सकते थे, उसीको

कालिदास थोड़े में इस ख़ूबी से कह सकते थे कि वह दर्शकों या पाठकों के चित्त में चुभ सी जाती थी। शब्द-चित्रण में भवभूति बढ़े चढ़े थे, भावोद्बोधन में कालिदास।

एक उदाहरण लीजिए। भवभूति का एक शब्द-चित्र है—

> सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां, दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि।
> दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि, स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते॥

अर्थात्—प्रेमी जन को देखने पर बन्धु-वियोग-जन्य दुःख मानों हज़ार गुना अधिक हो जाता है। वह इतना बढ़ जाता है, मानो उससे हज़ारों सोते फूट निकलते हैं।

इसी बात को—इसी भाव को—देखिए, कालिदास, थोड़े ही शब्दों में, पर किस ख़ूबी से, कहते हैं—

> स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो, विवृतद्वारमिवोपजायते।

अर्थात्—स्वजनों के आगे, छिपे हुए दुःख को बाहर निकल आने के लिए, हृदय का द्वार सा खुल जाता है।

इसीसे कहते हैं कि भवभूति के भाव शब्द-समूह के सघन वेष्टन से वेष्टित हैं। कालिदास के भावों का शब्द-वेष्टन इतना बारीक़ और इतना थोड़ा है कि वे उसके भीतर झलकते हुए देख पड़ते हैं। यही इन दोनों नाट्यकारों की कविता की विशेषता है।

कालिदास की उपमायें।

सुन्दर, सर्वाङ्गपूर्ण और निर्दोष उपमाओं के लिए

कालिदास की जो इतनी ख्याति है वह सर्वथा यथार्थ है। किसी देश और किसी भाषा का अन्य कोई कवि इस विषय में कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। इनकी उपमायें अलौकिक हैं। उनमें उपमान और उपमेय का अद्भुत सादृश्य है। जिस भाव, जिस विचार, जिस उक्ति को स्पष्टतर करने के लिए कालिदास ने उपमा का प्रयोग किया है उस उक्ति और उपमा का संयोग ऐसा बन पड़ा है जैसा कि दूध-बूरे का संयोग होता है। उपमा को उक्ति से अलग कर देने से वह अत्यन्त फीकी किंवा नीरस हो जाती है। यह बात केवल उपमाओं ही के लिए नहीं कही जा सकती। उपमाओं के सिवा उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त और निदर्शनालङ्कारों का भी प्रायः यही हाल है। अन्य कवियों की उपमाओं में उपमान और उपमेय के लिङ्ग और वचन में कहीं कहीं विभिन्नता पाई जाती है, पर कालिदास की उपमाओं में शायद ही कहीं यह दोष हो। देखिए—

(१) प्रवालशोभा इव पादपानां, शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः।
(२) नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः।
(३) समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा, पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्।
(४) विमर्षि चाकारमनिर्वृतानां, मृणालिनी हैममिवोपरागम्।
(५) पर्य्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा, सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।
(६) मेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्।

कैसी सुन्दर उपमायें हैं, कैसी श्रुति-सुखद और प्रसाद-गुण-पूर्ण पदावली है। किसकी प्रशंसा की जाय ? उपमा की "कोमल-कान्त पदावली" की अथवा हृदयहारिणी उक्ति की ?

कालिदास की कुछ उपमायें बहुत छोटी छोटी हैं, अनुष्टुप् छन्द के एक ही चरण में वे कही गई हैं। ऐसी उपमाओं में भी वही खूबी है जो लम्बे लम्बे श्लोकों में गुम्फित उपमाओं में है। वे छोटी छोटी उपमायें नीति, सदाचार और लोक-रीति-सम्बन्धिनी सत्यता से भरी हुई हैं। इसीसे वे पण्डितों के कण्ठ का भूषण हो रही हैं। साधारण बात-चीत और लेख आदि में उनका बेहद व्यवहार होता है—

(१) आदानं हि विसर्गाय, सतां वारिमुचामिव ।
(२) त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ।
(३) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ।
(४) हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ।
(५) उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ।

आदि ऐसी ही उपमायें हैं।

शास्त्र ज्ञान ।

कालिदास के काव्य और नाटक इस बात का साक्ष्य दे रहे हैं कि कालिदास केवल महाकवि ही न थे। कोई शास्त्र ऐसा न था जिसमें उनकी गति न हो। वे असामान्य

वैयाकरण थे। अलङ्कार-शास्त्र के वे पारगामी पण्डित थे। संस्कृत-भाषा पर उनकी निःसीम सत्ता थी। जो बात वे कहना चाहते थे उसे कविता-द्वारा व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक सुन्दर और भाव-व्यञ्जक शब्दों के समूह के समूह उनकी जिह्वा पर नृत्य सा करने लगते थे। कालिदास की कविता में शायद ही कुछ शब्द ऐसे हों जो असुन्दर और अनुपयोगी अथवा भावोद्बोधन में असमर्थ समझे जा सकें। वेदान्त के वे ज्ञाता थे, आयुर्वेद के वे ज्ञाता थे, सांख्य, न्याय और योग के वे ज्ञाता थे, ज्योतिष के वे ज्ञाता थे, पदार्थ-विज्ञान के वे ज्ञाता थे। लोकाचार, राजनीति, साधारण नीति आदि में भी उनकी असामान्य गति थी। प्रकृति-परिज्ञान के तो वे अद्भुत पण्डित थे। प्रकृति की सारी करामातें, उनके सारे कार्य, उनकी प्रतिभा के मुकुर में प्रतिबिम्बित होकर, उन्हें इस तरह देख पड़ते थे जिस तरह कि हथेली पर रक्खा हुआ आमला देख पड़ता है। वे उन्हें हस्तामलक हो रहे थे। उनकी चतुरस्रता के प्रमाण उनकी उक्तियों और उपमाओं में, जगह जगह पर, एकत्र चमक रहे हैं।

दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान।

प्रस्तावना में कही गई कालिदास की रचनाओं से यद्यपि यह सूचित होता है कि वे शैव थे, किंवा शिवोपासना

की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक थी, तथापि वे पूरे वेदान्ती थे। वेदान्त के तत्वों को वे अच्छी तरह जानते थे। ईश्वर और जीव, माया और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को वे वैसा ही मानते थे जैसा कि शङ्कराचार्य्य ने, पीछे से माना है। ईश्वर की सर्व-व्यापकता भी उन्हें मान्य थी। अभिज्ञान-शाकुन्तल का पहला ही श्लोक—"या सृष्टिः स्रष्टुराद्या"—इस बात का साक्षी है। इसमें उन्होंने यह बात स्पष्टता-पूर्वक स्वीकार की है कि ईश्वर की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। परमात्मा की अनन्तता का प्रमाण इस श्लोक में है—

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥

पुनर्जन्म अथवा आत्मा की अविनश्वरता का प्रमाण रघुवंश के निम्नोद्धृत पद्यार्द्ध में पाया जाता है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

कालिदास की योग-शास्त्र सम्बन्धिनी विद्वत्ता उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है—

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।

माया का आवरण हट जाने और सञ्चित कर्म क्षीणता को प्राप्त हो जाने से आत्मा का योग परमात्मा से हो जाता है। यह वेदान्त-तत्व है। इसे कालिदास जानते थे।

यह बात भी उनकी पूर्वोक्त उक्ति से सिद्ध है। वे
का सिद्धान्त है कि कर्म्मों या संस्कारों का बीज
होता। कालिदास ने—

(१) मपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ।

और

(२) भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।

कहकर इस सिद्धान्त का भी स्वीकार कि
सांख्य-शास्त्र-सम्बन्धिनी उनकी अभिज्ञता के दर्शक
श्लोक का अवतरण किसी पिछले लेख में पहले
आ चुका है।

ज्योतिष का ज्ञान ।

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि कालि
ज्योतिष-शास्त्र के पण्डित थे। इस बात के कितने ही प्र
उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उज्जयिनी बहुत काल
ज्योतिर्विद्या का केन्द्र थी। जिस समय इस शास्त्र की
ही उर्जितावस्था थी उसी समय, अथवा उसके कुछ
आगे-पीछे, कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ। अतएव ज्यो
से उनका परिचय होना बहुत ही स्वाभाविक था—

(१) दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।

(३) मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
(४) हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ।
(५) तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।

इत्यादि ऐसी कितनी ही उक्तियाँ कालिदास के ग्रन्थों में विद्यमान हैं जो उनकी ज्योतिष-शास्त्रज्ञता के कभी नष्ट न होनेवाले सर्टिफ़िकेट हैं।

वैद्य विद्या से परिचय।

कालिदास चाहे अनुभवशाली वैद्य न रहे हों, चाहे उन्होंने आयुर्वेद का विधिपूर्वक अभ्यास न किया हो, परन्तु इस शास्त्र से भी उनका थोड़ा बहुत परिचय अवश्य था। और सभी सत्कवियों का परिचय प्रधान प्रधान शास्त्रों से अवश्य ही होना चाहिए। बिना सर्वशास्त्रज्ञ हुए—बिना प्रधान प्रधान शास्त्रों का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किये—कवियों की कविता सर्वमान्य नहीं हो सकती। महाकवियों के लिए तो इस तरह के ज्ञान की बड़ी ही आवश्यकता होती है। क्षेमेन्द्र ने इस विषय में जो कुछ कहा है बहुत ठीक कहा है। वैद्य-विद्या के तत्त्वों से कालिदास अनभिज्ञ न थे। कुमार-सम्भव के दूसरे सर्ग में तारक के दौरात्म्य और पराक्रम आदि का वर्णन है। उस प्रसङ्ग में कालिदास ने लिखा है—

> तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः।
> वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके॥

मालविकाग्निमित्र में सर्पदंशचिकित्सा के विषय में कविकुलगुरु की उक्ति है—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतस्यारक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥

इन अवतरणों से सूचित होता है कि कालिदास की इस शास्त्र में भी गति बहुत नहीं तो थोड़ी अवश्य थी।

पदार्थ-विज्ञान से परिचय।

ग्रहण के यथार्थ कारण को कालिदास अच्छी तरह जानते थे। इस बात को उन्होंने अपने काव्यों में निःसन्देह रीति से लिखा है। कुमार-सम्भव के—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

इस श्लोक से सूचित होता है कि समुद्र में ज्वारभाटा आने का प्राकृतिक कारण भी उन्हें अच्छी तरह मालूम था। ध्रुव-प्रदेश में दीर्घकाल तक रहनेवाले उषः-काल का भी ज्ञान उन्हें था। उन्होंने लिखा है—

मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ।

उनके उषः-काल-सम्बन्धी ज्ञान का यह दृढ़ प्रमाण है। सूर्य्य की उष्णता से पानी भाफ बनकर उड़

जाता है। यही बरसता है। इस बात को भी वे जानते थे। कुमार-सम्भव का चौथा सर्ग इस बात की गवाही दे रहा है—

> रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी।

रघुवंश के—

> सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।

इस पद्यार्द्ध से भी यही बात सिद्ध होती है। "अयस्कान्तेन लोहवत्"— लिखकर उन्होंने यह सूचना दी है कि हम चुम्बक के गुणों से भी अनभिज्ञ नहीं।

राजनीति-ज्ञान।

इस विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। रघुवंश में राजाओं ही का वर्णन है। उसमें ऐसी सैकड़ों उक्तियाँ हैं जो इस बात की घोषणा दे रही हैं कि कालिदास बहुत बड़े राज-नीतिज्ञ थे। राजा किसे कहते हैं, उसका सबसे प्रधान धर्म्म या कर्त्तव्य क्या है, प्रजा के साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए—इन बातों को कालिदास जैसा समझते थे, वैसा शायद आजकल के बड़े से भी बड़े राजा और राजनीतिनिपुण अधिकारी न समझते होंगे। कालिदास की—"स पिता पितरस्तासां केवलं

जन्महेतवः"—सिर्फ यह एक उक्ति इस कथन के समर्थन के लिए यथेष्ट है।

भूगोल ज्ञान ।

मेघदूत में कालिदास ने जो अनेक देशों, नगरों, पर्व्वतों और नदियों का वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि उन्हें भारत का भौगोलिक ज्ञान भी बहुत अच्छा था। उन्होंने अनेक देश-दर्शन करके—दूर दूर की यात्रा करके—यह ज्ञान प्राप्त किया होगा। चोल, केरल और पाण्ड्य देश का उन्होंने जैसा वर्णन किया है, विन्ध्य-गिरि, हिमालय और काश्मीर के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है, रघुवंश के तेरहवें सर्ग में भारतीय समुद्र के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ उन्होंने कही हैं, उन्हें पढ़ते समय यह जान पड़ता है, जैसे कोई इन सबका आँखों देखा हाल लिख रहा हो। उनके इन वर्णनों में बहुत ही कम भौगोलिक भ्रम हैं। अतएव यही कहना पड़ता है कि कालिदास ने भारत में दूर दूर तक भ्रमण करके अनेक प्रकार के भौगोलिक दृश्यों का परिज्ञान प्राप्त किया था।

सितम्बर १९११ ।

५—कालिदास के ग्रन्थों की आलोचना।

समालोचना से बड़े लाभ हैं। जिस साहित्य में समालोचना नहीं वह विटपविहीन महीरुह के समान है। उसे देखकर नेत्रानन्द नहीं होता। उसके पाठ और परिशीलन से हृदय शीतल नहीं होता। वह नीरस मालूम होता है। सत्कवि अपने काव्यों के द्वारा समाज का हित-साधन करता है। वह अपने काव्यों में आदर्श-पुरुषों और आदर्श-स्त्रियों का चरित्र वर्णन करके उसके द्वारा ऐसी ऐसी शिक्षायें देता है जो और किसी तरह नहीं दी जा सकतीं। काव्येतर ग्रन्थों की शिक्षायें

इतना पर उतनी अङ्कित नहीं होतीं जितनी कवियों की शिक्षायें होती हैं। नीति से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों में सच बोलने की महिमा जगह जगह पर गाई गई है। पर उसका असर उतना नहीं होता जितना कि कविवर्णित हरिश्चन्द्र के चरित से होता है। राजा का सर्वप्रधान कर्त्तव्य प्रजारञ्जन है। पुराणादि में हजारों जगह इसका उल्लेख है। पर ऐसे विधि-निषेधात्मक उल्लेखों की लोग तादृश परवा नहीं करते। केवल प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए, निष्कलङ्क जानकर भी, जब सीता का परित्याग रामचन्द्र के द्वारा किया जाना हम रघुवंश में पढ़ते हैं तब यही बात हमारे हृदय में पत्थर की लकीर हो जाती है। कवि यह नहीं कहता कि यह काम करना अच्छा है और यह काम करना बुरा। वह इन बातों के चित्र दिखलाकर उनके द्वारा समाज-हितकारिणी शिक्षा देता है। पति का अनुचित आचरण देखकर भी आदर्श सती स्त्रियाँ उसकी प्रतिकूलता नहीं करतीं। वे पति के सुख को अपना सुख समझती हैं। आन्तरिक वेदना सहने पर भी वे पति से कठोर और कोप-प्रदर्शक व्यवहार नहीं करतीं। इस लोकोपकारिणी शिक्षा को कवि महारानी धारिणी, औशीनरी और शकुन्तला के चरित-सम्बन्धी शब्द-

दिखलाकर देता है, और ऐसी शिक्षा का असर अन्य से दी गई शिक्षा की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक होता

है। प्रत्यक्ष शिक्षा में रस नहीं। इस तरह की शिक्षा में अपूर्व रसास्वादन के साथ साथ चिरस्थायिनी शिक्षा भी प्राप्त होती है। जो समालोचक ऐसे रहस्य का उद्घाटन करके कवि के आन्तरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है वही सच्चा समालोचक है।

जिसके काव्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रन्थकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हरएक परदे का पता लगाना चाहिए। अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जबतक समालोचक को न मालूम होगा तबतक वह उस उक्ति की ठीक समालोचना कभी न कर सकेगा। किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। यह तबतक सम्भव नहीं जबतक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जाय। कवि की कविता किस समय की है, उस समय देश की क्या दशा थी, समाज की क्या दशा थी, तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे—इन बातों को अच्छी तरह जाने बिना समालोचना करते

समय समालोचित लेख के कर्त्ता पर अन्याय होने का भ
डर रहता है। जो सरस-हृदय नहीं, जिसने काव्य-शा
में अच्छी गति नहीं प्राप्त की, जिसने अलङ्कार-शास्त्र
परिशीलन नहीं किया, जिसने अन्यान्य प्रसिद्ध प्रति
कवियों की कविताओं को विचार-पूर्वक नहीं पढ़ा, वह यदि
कालिदास के काव्यों की आलोचना करने बैठे तो उसकी
समालोचना कभी आदरणीय न होगी। किसीने किसी
पत्र या पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए कोई लेख भेजा।
सम्पादक ने उसे प्रकाशनीय समझकर न छापा। बस,
फिर क्या है, लगी उसकी समालोचना होने। किसी पत्र ने
किसी अन्य पत्र के साथ बदला नहीं किया। लगी होने
उस पर वाग्बाणों की वर्षा। फिर उस समालोचना में
उसके घर-द्वार, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, वस्त्राच्छाद-
न तक की ख़बर ली जाने लगी। यह समालोचना नहीं, किन्तु
समालोचक के पवित्र आसन को कलङ्कित और साहित्य-
सरोवर को पङ्किल करना है।

कवि या ग्रन्थकार जिस अवस्था में ग्रन्थ-रचना
करता है उसको सर्वसाधारण को परिचित करानेवाले समा-
लोचक की बड़ी ही ज़रूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की
समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और
कवि के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की भी समझ में आ

जाते हैं। कालिदास की शकुन्तला, प्रियंवदा और अनसूया के स्वभाव में क्या भेद है? उनके स्वभाव-चित्रण में कवि ने कौनसी खूबियाँ रक्खी हैं? उनसे क्या क्या शिक्षा मिलती है? ये बातें सब लोगों के ध्यान में नहीं आ सकतीं। अतएव वे उनसे लाभ उठाने से वञ्चित रह जाते हैं। इसे थोड़ी हानि न समझिए। इससे कवि के उद्देश का अधिकांश ही व्यर्थ जाता है। योग्य समालोचक समाज को इस हानि से बचाने की चेष्टा करता है। इसीसे साहित्य में उसका काम इतने आदर की दृष्टि से देखा जाता है—इसीसे साहित्य की उन्नति के लिए उसकी इतनी आवश्यकता है।

अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों ने अपने ही देश के कवियों के ग्रन्थों की नहीं, किन्तु विदेशी कवियों तक के काव्यों की समालोचनायें लिखकर अपने साहित्य का कल्याण-साधन किया है। परन्तु अपनी देश-भाषा में भारत के कवि-कुल-चक्र-चूड़ामणि के समग्र ग्रन्थों की विस्तृत समालोचना का अबतक अभाव था। यों तो कालिदास के कई ग्रन्थों की अच्छी अच्छी समालोचनायें बँगला, मराठी और तैलङ्गी भाषाओं में निकल चुकी हैं। कवि-कुलगुरु के काव्यों और नाटकों की समष्टि-रूप से भी दो एक समालोचनायें हुई हैं। पर वे विस्तृत नहीं, उनमें प्रत्येक बात पर विचार नहीं किया गया। थोड़े ही में मुख्य मुख्य बातें कह

दी गई हैं। बड़े आनन्द का विषय है, इस अभाव को एक बहुयामी विद्वान् ने दूर कर दिया। श्रीयुत राजेन्द्रनाथदेव शर्म्मा, विद्याभूषण, कलकत्ते के संस्कृत-कालेज में अध्यापक हैं। आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय के परीक्षक और व्याख्याता (Lecturer) भी हैं। कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ भी आपने बनाये हैं। "कालिदास और भवभूति" नाम की भी एक उपयोगी पुस्तक की रचना आपने की है। आपका एक नया ग्रन्थ हाल में प्रकाशित हुआ है। उसका नाम है—"कालिदास"। यह माननीय विचारपति डाक्टर आशुतोष मुखोपाध्याय सरस्वती, सी० एस० आई०, एम० ए०, डी० एल०, डी० एस्-सी० को समर्पित किया गया है। कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी के अध्यक्ष, अनेक भाषाभिज्ञ परम विद्वान् श्रीयुत हरिनाथ दे, एम० ए०, की लिखी हुई, पुस्तकारम्भ में, एक विचार-पूर्ण भूमिका, अँगरेज़ी में, प्रकाशित की गई है। पुस्तक बँगला में है और कई मनोहर चित्रों से अलंकृत है। छः सौ से अधिक पृष्ठों में वह समाप्त हुई है। उसमें कालिदास के रघुवंश, कुमार-सम्भव, मेघदूत, अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र की विस्तार-पूर्वक समालोचना है। समालोचना बड़ी ही योग्यता और मार्मिकता से की गई है। समालोचक महोदय ने ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है जिनका साधारण-

उनों के ध्यान में आना बिलकुल ही असम्भव था। कालिदास क्यों कवि-कुलगुरु कहे जाते हैं, उनकी कविता में कौनसी ऐसी बातें हैं जिनके कारण उनका इतना नाम है, उनकी कविता से कैसी कैसी शिक्षायें मिलती हैं, उनके नाटक-पात्रों में क्या विशेषता है—यह सब इस समालोचना के पढ़ने से तत्काल मालूम हो जाता है और कालिदास की प्रशंसा सहस्र मुख से करने को जी चाहता है। इस समालोचना से यह भी ज्ञात हो जाता है कि समालोचना के लिए कितनी विद्वत्ता की अपेक्षा होती है और उससे साहित्य तथा सर्व-साधारण को कितना लाभ पहुँच सकता है। हमारी प्रार्थना है कि जो लोग बँगला पढ़ सकते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। जो नहीं पढ़ सकते हैं वे, यदि हो सके तो उसे सीखने का प्रयत्न करें। अकेली इस एक पुस्तक के पढ़ने के लिए ही यदि वे बँगला सीखें तो भी उन्हें अपना परिश्रम सफल समझना चाहिए। क्योंकि थोड़े ही परिश्रम से वे कालिदास की कविता का मर्म्म समझ सकेंगे और यह जान सकेंगे कि कवीश्वरों के चक्रवर्ती कालिदास की कविता की क्यों इतनी प्रशंसा है, उसमें क्या गुण है, उसमें कितना रस है और उससे कितनी और किस तरह की शिक्षायें मिल सकती हैं। यह थोड़ा लाभ नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए किये गये परिश्रम की अपेक्षा यह बहुत अधिक है।

कालिदास के ग्रन्थों में रघुवंश सबसे श्रेष्ठ है। उसकी सर्वोत्तमता का कारण यह है कि उसमें महाकवि ने सृष्टि-नैपुण्य का सबसे अच्छा चित्र खींचा है। और सृष्टि-चातुर्य्य का सूक्ष्म और सच्चा ज्ञान होना ही कवि का सबसे बड़ा गुण है। इस गुण के विषय में विद्याभूषण महोदय ने बहुत कुछ लिखा है। उसका मतलब नीचे दिया जाता है।

कवि का प्रधान गुण सृष्टि-नैपुण्य है। सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि, और देश, काल तथा अवस्था के अनुसार, उस चरित्रावलि का काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्व्वश्रेष्ठ कौशल है। यह कौशल जिसमें नहीं उसमें अन्य गुण चाहे जितने हों उसकी रचना उत्कृष्ट नहीं हो सकती। सृष्टि-वर्णन स्वभावानुरूप होने से मनोरम होता है। स्वभाव-प्रतिकूल होने से वही विरक्ति-जनक हो जाता है। इसीसे आरव्योपन्यास की अधिकांश घटनायें सहृदय-सम्मत नहीं। जो व्यापार स्वभाव के अनुसार होते हैं, काव्य की सृष्टि में तदनुयायी व्यापारों का होना ही उचित है। यदि कवि अपने सृष्टि-कौशल में सांसारिक व्यवहार-समूह को स्वाभाविक व्यवहार की अपेक्षा अधिकतर मनोहर और वैचित्र्य-विभूषित बना सके तो उसका काव्य और भी सुन्दर हो। मनुष्य के प्रधान गुणों में आत्म-त्याग भी एक गुण है। यह एक प्रकार की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। संसार में

इस आत्म-त्याग के अनेक उदाहरण देखे जाते हैं। यदि कवि अपने काव्य में इस आत्म-त्याग की उत्तम मूर्ति दिखा सके तो उसका काव्य निस्सन्देह बहुत ही हृदयहारी हो। किन्तु आत्म-त्याग के जैसे दृष्टान्त संसार में दृष्टिगोचर होते हैं उनकी अपेक्षा यदि कवि ऐसे दृष्टान्तों को अधिकतर मनोज्ञ बना सके तो उसकी सृष्टि स्वाभाविक सृष्टि की अपेक्षा अधिक चमत्कारिणी और आल्हाद-दायिनी हो। इस चमत्कारिणी कवि-सृष्टि में यदि कुछ भी स्वभाव-विरुद्ध, अर्थात् अस्वाभाविक, न होगा तभी वह सृष्टि सर्वांश में निर्दोष होगी। स्वभाव में जो बात सोलह आने पाई जाती है उसे कवि अठारह आने कर सकता है। परन्तु स्वभाव में जिस वस्तु का अस्तित्व एक आना भी नहीं उसकी रचना करने से यही सूचित होगा कि कवि में नैपुण्य का सर्वथा अभाव था। स्वभावानुरूप चरित्र-सृष्टि करने से भी कवि की तादृश प्रशंसा नहीं। क्योंकि ऐसी सृष्टि से कवि-सृष्टि का उत्कर्ष नहीं सूचित होता। उससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। जो व्यवहार हम लोग प्रतिदिन संसार में अपनी आँखों से देखते हैं उन्हींका प्रतिबिम्ब यदि कवि-सृष्टि में देखने को मिला—उन्हींका यदि पुनर्दर्शन प्राप्त हुआ—तो उसमें विशेषता ही क्या हुई? जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन न हुआ वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा

जनों के ध्यान में आना बिलकुल ही असम्भव था। कालिदास क्यों कवि-कुलगुरु कहे जाते हैं, उनकी कविता में कौनसी ऐसी बातें हैं जिनके कारण उनका इतना नाम है, उनकी कविता से कैसी कैसी शिक्षायें मिलती हैं, उनके नाटक-पात्रों में क्या विशेषता है—यह सब इस समालोचना के पढ़ने से तत्काल मालूम हो जाता है और कालिदास की प्रशंसा सहस्र मुख से करने को जी चाहता है। इस समालोचना से यह भी बात हो जाता है कि समालोचना के लिए कितनी विद्वत्ता की अपेक्षा होती है और उससे साहित्य तथा सर्व-साधारण को कितना लाभ पहुँच सकता है। हमारी प्रार्थना है कि जो लोग बँगला पढ़ सकते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। जो नहीं पढ़ सकते हैं वे, यदि हो सके तो उसे सीखने का प्रयत्न करें। अकेली इस एक पुस्तक के पढ़ने के लिए ही यदि वे बँगला सीखें तो भी उन्हें अपना परिश्रम सफल समझना चाहिए। क्योंकि थोड़े ही परिश्रम से वे कालिदास की कविता का मर्म्म समझ सकेंगे और यह जान सकेंगे कि कवीश्वरों के चक्रवर्ती कालिदास की कविता की क्यों इतनी प्रशंसा है, उसमें क्या गुण है, उसमें कितना रस है और उससे कितनी और किस तरह की शिक्षायें मिल सकती हैं। यह थोड़ा लाभ नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए किये गये परिश्रम की अपेक्षा वह बहुत अधिक है।

कालिदास के ग्रन्थों में रघुवंश सबसे श्रेष्ठ है। उसकी सर्वोत्तमता का कारण यह है कि उसमें महाकवि ने सृष्टि-नैपुण्य का सबसे अच्छा चित्र खींचा है। और सृष्टि-चातुर्य्य का सूक्ष्म और सच्चा ज्ञान होना ही कवि का सबसे बड़ा गुण है। इस गुण के विषय में विद्याभूषण महोदय ने बहुत कुछ लिखा है। उसका मतलब नीचे दिया जाता है।

कवि का प्रधान गुण सृष्टि-नैपुण्य है। सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि, और देश, काल तथा अवस्था के अनुसार, उस चरित्रावलि का काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है। यह कौशल जिसमें नहीं उसमें अन्य गुण चाहे जितने हों उसकी रचना उत्कृष्ट नहीं हो सकती। सृष्टि-वर्णन स्वभावनुरूप होने से मनोरम होता है। स्वभाव-प्रतिकूल होने से वही विरक्ति-जनक हो जाता है। इसीसे आख्योपन्यास की अधिकांश घटनायें सहृदय-सम्मत नहीं। जो व्यापार स्वभाव के अनुसार होते हैं, भाव की सृष्टि में तदनुयायी व्यापारों का होना ही उचित है। यदि कवि अपने सृष्टि-कौशल में सांसारिक व्यवहार-समूह को स्वाभाविक व्यवहार की अपेक्षा अधिकतर मनोहर और वैचित्र्य-विभूषित बना सके तो उसका काव्य और भी सुन्दर हो। मनुष्य के प्रधान गुणों में आत्म-त्याग भी एक गुण है। यह एक प्रकार की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। संसार में

इस आत्म-त्याग के अनेक उदाहरण देखे आते हैं। यदि कवि अपने काव्य में इस आत्म-त्याग की उत्तम मूर्ति दिखा सके तो उसका काव्य निस्सन्देह बहुत ही हृदयहारी हो। किन्तु आत्म-त्याग के जैसे दृष्टान्त संसार में दृष्टिगोचर होते हैं उनकी अपेक्षा यदि कवि ऐसे दृष्टान्तों को अधिकतर मनोज्ञ बना सके तो उसकी सृष्टि स्वाभाविक सृष्टि की अपेक्षा अधिक चमत्कारिणी और आल्हाद-दायिनी हो। इस चमत्कारिणी कवि-सृष्टि में यदि कुछ भी स्वभाव-विरुद्ध, अर्थात् अस्वाभाविक, न होगा तभी वह सृष्टि सर्व्वांश में निर्दोष होगी। स्वभाव में जो बात सोलह आने पाई जाती है उसे कवि अठारह आने कर सकता है। परन्तु स्वभाव में जिस वस्तु का अस्तित्व एक आना भी नहीं उसकी रचना करने से यही सूचित होगा कि कवि में नैपुण्य का सर्व्वथा अभाव था। स्वभावानुरूप चरित्र-सृष्टि करने से भी कवि की तादृश प्रशंसा नहीं। क्योंकि ऐसी सृष्टि से कवि-सृष्टि का उत्कर्ष नहीं सूचित होता। उससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। जो व्यवहार हम लोग प्रतिदिन संसार में अपनी आँखों से देखते हैं उन्हींका प्रतिबिम्ब यदि कवि-सृष्टि में देखने को मिला—उन्हींका यदि पुनर्दर्शन प्राप्त हुआ—तो उसमें विशेषता ही क्या हुई? जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन न हुआ वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा

सकता। समुद्र के किनारे बैठकर अस्तगमनोन्मुख सूर्य्य की शोभा देखना बहुत ही आनन्द-दायक दृश्य है। पर्व्वत के शिखर से अधोगामिनी नदी या अधोदेशदर्शिनी हरितवसना पृथ्वी का दर्शन सचमुच बड़ा ही आल्हाद-कारक व्यापार है। अपनी प्रतिभा के बल पर कवि इन दोनों प्रकार के दृश्यों की तद्वत् मूर्तियाँ निर्म्मित कर सकता है। परन्तु उनके अव-लोकन से क्षणस्थायी आनन्द के सिवा दर्शकों और पाठकों का और कोई हितसाधन नहीं हो सकता। उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। जिस सृष्टि से आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं। संसार में ऐसे संख्यातीत पदार्थ हैं जिनसे क्षण भर के लिए चित्त विनोद-पूर्ण हो सकता है—हृदय को आल्हाद प्राप्त हो सकता है। फिर काव्य की क्या आवश्यकता? अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि पाठकों के आमोद-विधान के सिवा काव्य का और भी कुछ उद्देश है। परन्तु वह उद्देश काव्य-शरीर के अन्तर्गत इतना छिपा हुआ होता है कि पाठकों को उसकी उपलब्धि सहसा नहीं होती। देवशक्ति जिस प्रकार अज्ञात-भाव-पूर्वक अपना काम करती है उसी प्रकार कवि का गूढ़ उद्देश भी पाठकों के हृदय पर असर करता है, पर उनको उसके अस्तित्व की कुछ भी खबर नहीं होती। इस प्रकार का गूढ़ उद्देश पाठकों के अन्तःकरण में चिरस्थायी संस्कार

उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। कवि का प्रच्छन्न उद्देश होता है—पाठकों के हृदय का उत्कर्ष-साधन और शुद्धि-विधान तथा जगत् को शिक्षा-प्रदान। कवि-जन पहले तो सौन्दर्य्य की पराकाष्ठा दिखलाते हैं। फिर, उसी प्रत्यक्ष सौन्दर्य्य-सृष्टि के द्वारा, परोक्ष-भाव से, पाठकों के हृदय को भी सौन्दर्य्य-पूर्ण कर देते हैं। सुन्दर फूल देखकर नेत्रों को अवश्य तृप्ति होती है। पर यदि ऐसे फूल में सौरभ भी हो तो उसके साथ ही मन भी तृप्त हो जाता है। नेत्रों की तृप्ति क्षण-स्थायिनी होती है, परन्तु मन की तृप्ति चिरस्थायिनी। इसीसे कवि-जन लोक-शिक्षोपयोगी आदर्शों को सौन्दर्य्य-पूर्ण, हृदयरञ्जन, आवेष्टन से आवृत करके संसार में शिक्षा का प्रचार करते हैं। धीरता और सत्यप्रियता श्रेष्ठ गुण हैं। अतएव सबको धीर और सत्य-प्रिय होना चाहिए। भीष्म और युधिष्ठिर की सृष्टि करके महाभारत में कवि ने बड़ी ही खूबी से इन गुणों की शिक्षा दी है। सैकड़ों वाग्मी हज़ारों वर्षों तक वक्तृता करके भी जो काम इतनी अच्छी तरह नहीं कर सकते, जो काम राज-शासन द्वारा भी सुन्दरता-पूर्वक नहीं हो सकता, वही कवि अपने सृष्टि-कौशल द्वारा सहज ही में कर सकता है। आत्म-त्याग अच्छी चीज़ है, स्वार्थ-परता बुरी। इस तत्त्व को धर्म्मोपदेष्टा सौ वर्ष तक प्रयत्न करके शायद लोगों के हृदय पर उतनी सुन्दरता से अङ्कित न

कर सकेंगे जितनी सुन्दरता से कि कवि ने राम के द्वारा सीता का निर्वासन कराकर सचित किया है। इसीसे यह कहना पड़ता है कि कवि संसार के सर्वप्रधान शिक्षक और सर्वप्रधान उपकारक हैं।

काव्य का सृष्टि-सौन्दर्य किसी निर्दिष्ट विषय से ही सम्बन्ध नहीं रखता। केवल रूप, गुण या अवस्था-विशेष के वर्णन में ही सौन्दर्य परिस्फुट नहीं होता। देश, काल, पात्र, रूप, गुण, अवस्था, कार्य्य आदि की समष्टि के द्वारा यदि किसी सुन्दर वस्तु की सृष्टि की जाय तो उस सृष्ट वस्तु के सौन्दर्य्य को ही यथार्थ सौन्दर्य्य कह सकते हैं। यह कवि-सृष्टि का परमोत्कर्ष है। अन्यथा, यदि और बातों की उपेक्षा करके नायिका के चिकुर-वर्णन से ही सर्ग का अधिकांश भर दिया जाय तो उसमें सौन्दर्य्य आ कैसे सकेगा? उससे तो उलटी विरक्ति उत्पन्न होगी।

सृष्टि-नैपुण्य ही कवि का प्रथम और प्रधान गुण है। उस सृष्टि-नैपुण्य के किसी अंश में त्रुटि आ जाने से काव्य की जैसे अङ्ग-हानि होती है वैसे ही, लोक-शिक्षारूपी जिस उच्च उद्देश-साधन के इरादे से कवि काव्य-प्रणयन करता है उसकी सिद्धि में भी व्याघात आता है। जो कवि केवल दस-पाँच श्लोकों की रचना करके किसी पदार्थ का केवल बाहरी सौन्दर्य्य दिखाता है उसका आसन अधिकांश निरा-

पर्दा रहता है। जो लोग बाहरी सौन्दर्य्य के बीच में वर्णनीय पदार्थ को स्थापित करके, इसी बाहरी सौन्दर्य्य के प्रकाश-द्वारा उसे प्रकाशित करते हैं उनका काम भी उतना दुष्कर नहीं। किन्तु जो कवि बाहरी सौन्दर्य्य को दूर रखकर, वर्णनीय वस्तु के केवल भीतरी भाग पर दृष्टि रखता है—वेश-भूषा के विषय में उदासीन रहकर भूषित व्यक्ति के हृदय की ही तरफ दृष्टि-क्षेप करता है—अर्थात् जो एक सम्पूर्ण विराट् मूर्ति की सृष्टि करके तद्द्वारा समाज को शिक्षा देना चाहता है—उसका आसन बड़ा ही समस्या-पूर्ण समझा जाता है। उसे बात बात पर, पद पद पर, अक्षर अक्षर पर, समाज की अवस्था की भावना करनी पड़ती है—लोकहितैषणा से प्रणोदित होना पड़ता है। जो बात समाज के लिए अमङ्गलकर है, जिसकी आलोचना से समाज का महत् हित-साधन नहीं होता, उसका वह परित्याग करता है। इसीसे हमारे आर्य्य-साहित्य में लेडी मैकबेथ और ओथेलो का चित्र नहीं पाया जाता। जिस वस्तु का सर्वांश उत्तम है—जो सर्वथा सत् है—उसीकी सृष्टि होनी चाहिए।

महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ काव्य, अथवा संस्कृत-भाषा के सर्व्वश्रेष्ठ महाकाव्य, रघुवंश के प्रत्येक अक्षर में यह सत्य विद्यमान है। लोकशिक्षोपयोगी बातों से रघुवंश आद्यन्त परिपूर्ण है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरु के

धाता में अटल विश्वास, मतरूपिणी पयस्विनी धेनु की परिचर्या, भिक्षार्थी अतिथि की अभिलाषपूर्ति के लिए धरणीपति राजा की व्याकुलता, लोकरञ्जन और राजसिंहासन निष्कलङ्क रखने के लिए नृपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा पत्नी का निर्वासनरूपी आत्म-त्याग आदि अनेक लोक-हितकर और समाज-शिक्षोपयोगी विषयों से रघुवंश भरा-हुआ है।

विद्या-भूषण" महाशय की इस समालोचना, इस विवेचना, इस मर्मोद्घाटन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि क्यों रघुवंश सर्वोत्तम काव्य माना जाता है और कालिदास को क्यों कविकुलगुरु की पदवी मिली है। ऐसे समालोचक का आसन कितना ऊँचा है और साहित्य की उन्नति के लिए उसकी कितनी आवश्यकता है, यह बात भी इससे अच्छी तरह विदित हो जायगी। जो कौमुदी के कीड़े और महाभाष्य के मतङ्गज कालिदास का एक भी शब्द-स्खलन नहीं सह सकते, अतएव उसे सही सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतञ्जलि, और कात्यायन की भी उक्तियों पर हरताल लगाने की चेष्टा करते हैं उन्हें विद्याभूषण जी का आसन कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कालिदास की कीर्ति की रक्षा उनके दो-चार-शब्द-स्खलनों को शुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा से नहीं हो सकती। उसकी रक्षा ऐसी समालोचनाओं से हो सकती है जैसी विद्या-भूषण जी ने प्रकाशित की है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल के विषय में श्रीयुत राजेन्द्रनाथ-जी ने बहुत कुछ लिखा है। उसकी समालोचना से उन्होंने अपनी पुस्तक के सौ पृष्ठों से भी अधिक ख़र्च किये हैं। उनकी सम्मति का सारांश यह है—

अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास की विश्वतोमुखी प्रतिभा, ब्रह्माण्डव्यापिनी कल्पना और सर्वातिशायिनी रचना की सर्वोत्तम कसौटी है। विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र में कवि ने जिन दृश्यों और दिव्य मूर्तियों का अङ्कन किया है वे सब तो शाकुन्तल में हैं ही। परन्तु उसमें ऐसी और भी अनेक मूर्तियाँ और अनेक चीज़ें हैं जिनका मन ही मन केवल अनुभव किया जा सकता है, दूसरों को उनका अनुभव नहीं कराया जा सकता। वे केवल आत्मसंवेद्य हैं; भाषा की सहायता से वे दूसरे पर नहीं प्रकट की जा सकतीं। इसीसे अभिज्ञान शाकुन्तल कवि-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है। सहृदय जनों ने यथार्थ ही कहा है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान-शकुन्तलम्"। अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास का सर्वस्व है; उनकी अपार्थिव कल्पनारूपिणी उद्यान-वाटिका की अमृतमयी पारिजात-लता है। धर्म्म और प्रेम; इन दोनों के सम्मेलन से जगत् में जिस मधुर आनन्द की उत्पत्ति होती है, अभिज्ञान शाकुन्तल-रूपी स्वच्छ दर्पण में उसीका प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। शकुन्तला

याश्र में [अटल विश्वास, "अत्यकविणी पयस्विनी धेनु की परिचर्य्या, [भिक्षार्थी अतिथि की अभिलाषपूर्ति के लिए धरणीपति राजा की व्याकुलता, लोकरञ्जन और राजसिंहासन निष्कलङ्क रखने के लिए नृपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा, पत्नी का निर्वासनरूपी आत्म-त्याग आदि अनेक लोक-हितकर और समाज-शिक्षोपयोगी विषयों से रघुवंश अलंकृत है।

विद्या-भूषण" महाशय की इस समालोचना, इस विवेचना, इस मर्मोद्घाटन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि क्यों रघुवंश सर्वोत्तम काव्य माना जाता है और कालिदास को क्यों कविकुलगुरु की पदवी मिली है। ऐसे समालोचक का आसन कितना ऊँचा है और साहित्य की उन्नति के लिए उसकी कितनी आवश्यकता है, यह बात भी इससे अच्छी तरह विदित हो जायगी। जो कौमुदी के कीड़े और महा-भाष्य के मतङ्ग कालिदास का एक भी शब्द-स्खलन नहीं सह सकते, अतएव उसे सही सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतञ्जलि, और कात्यायन की भी उक्तियों पर हरताल लगाने की चेष्टा करते हैं उन्हें विद्याभूषण जी का आसन कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कालिदास की कीर्ति की रक्षा उनके दो-चार-शब्द-स्खलनों को शुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा से नहीं हो सकती। उसकी रक्षा ऐसी समालोचनाओं से हो सकती है जैसी विद्या-भूषण जी ने प्रकाशित की है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल के विषय में श्रीयुत राजेन्द्रनाथ-जी ने बहुत कुछ लिखा है। उसकी समालोचना से उन्होंने अपनी पुस्तक के सौ पृष्ठों से भी अधिक खर्च किये हैं। उनकी सम्मति का सारांश यह है—

अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास की विश्वतोमुखी प्रतिभा, ब्रह्माण्डव्यापिनी कल्पना और सर्वातिशायिनी रचना की सर्वोत्तम कसौटी है। विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र में कवि ने जिन दृश्यों और दिव्य मूर्तियों का अङ्कन किया है वे सब तो शाकुन्तल में हैं हीं। परन्तु उसमें ऐसी और भी अनेक मूर्तियाँ और अनेक चीज़ें हैं जिनका मन ही मन केवल अनुभव किया जा सकता है, दूसरों को उनका अनुभव नहीं कराया जा सकता। वे केवल आत्मसंवेद्य हैं; भाषा की सहायता से वे दूसरे पर नहीं प्रकट की जा सकतीं। इसीसे अभिज्ञान शाकुन्तल कवि-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है। सहृदय जनों ने यथार्थ ही कहा है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान-शकुन्तलम्"। अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास का सर्वस्व है, उनकी अपार्थिव कल्पनारूपिणी उद्यान-वाटिका की अमृतमयी पारिजात-लता है। धर्म्म और प्रेम; इन दोनों के सम्मेलन से जगत् में जिस मधुर आनन्द की उत्पत्ति होती है, अभिज्ञान शाकुन्तल-रूपी स्वच्छ दर्पण में उसीका प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। शकुन्तला

ाव का चरम सृष्टि है—वाणी के वर-पुत्र का असाध्य
स्य है।

शकुन्तला के प्रत्येक पात्र, प्रत्येक घटना और प्रत्येक
की विशेषता और तद्विषयक महाकवि के अलौकिक
र्य से अभिज्ञता प्राप्त करना हो तो विद्या-भूषणजी की
हुई समालोचना साद्यन्त पढ़ना चाहिए।

विद्या-भूषण महोदय को कालिदास का अन्ध-भक्त
ाहिए। उन्होंने कालिदास की रचनाओं में दोषो-
ायें भी की हैं। कुमार-सम्भव के विषय में आपकी
:—

“कुमार-सम्भव रघुवंश का पूर्ववर्ती है। पहली
का बिलकुल ही निर्दोष होना सम्भव नहीं। इसीसे
सम्भव में जो जो स्थल किञ्चित् असंगत हैं उनका
मूह का संशोधन कालिदास ने रघुवंश में कर दिया
र-पार्वती के विवाह का अज-इन्दुमती के विवाह से
ति-विलाप का अज-विलाप से मिलान करने पर यह
सबको स्वीकार करना पड़ेगा।”

मतलब यह कि शिव-पार्वती के विवाह और
ार में कालिदास को खुद ही अनौचित्य मालूम
इससे उन्होंने अज-इन्दुमती के विवाह और अज-

विलाप को और तरह से लिखकर पूर्व दोष को रघुवंश में नहीं आने दिया।

मेघदूत के अन्यान्य अंशों की प्रशंसा करने के बाद विद्या-भूषण जी लिखते हैं—

"मेघदूत में कोई ऐसा आदर्श-चरित नहीं जिससे कोई लोक-हितकर या समाज-हितकर शिक्षा मिल सके। राम, सीता और दुष्यन्त-शकुन्तला के आदर्श-चरित्र से समाज का बहुत कुछ उपकार-साधन हो सकता है। परन्तु मेघदूत के यक्ष और यक्ष-पत्नी के चरित्र से उस तरह का कोई उच्च उद्देश सम्पन्न नहीं हो सकता"।

ऋतुसंहार में सृष्टि-नैपुण्य नहीं। अतएव उसे विद्या-भूषण जी प्रधान काव्य नहीं मानते। सृष्टि विषयक चातुर्य्य ही को आप काव्य का जीवन मानते हैं। अतएव और सब बातों के होने पर भी जिस काव्य में यह गुण नहीं उसे प्रायः निर्जीव ही समझना चाहिए।

राजेन्द्रनाथ महोदय अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं—

"रघुवंश के सातवें सर्ग के अन्त में, इन्दुमती को न पाने के कारण निराश हुए अपरापर राजाओं के साथ महा-कवि कालिदास ने इन्दुमती-वल्लभ अज का युद्ध वर्णन किया

है। उसे पढ़ने से कवि के हृदय की कोमलता का बहुत कुछ पता लगता है। युद्ध-वर्णन में अपनी विश्वविमोहिनी कल्पना की स्वाभाविक लीला दिखाने में कालिदास समर्थ नहीं हुए। इस विषय में कविगुरु वाल्मीकि ही सिद्ध-हस्त थे। उन्होंने ऐसे प्रसङ्गों में जैसा अद्भुत रचना-कौशल दिखाया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।"

अर्थात् आपकी सम्मति में कालिदास को युद्ध का अच्छा वर्णन करना न आता था। मालविकाग्निमित्र के विषय में भी आपने एक जगह प्रतिकूल राय दी है। लिखा है कि इसमें कालिदास अपनी स्वाभाविक और उन्मादिनी वर्णना करने में समर्थ नहीं हुए—अथवा उन्हें इस तरह का वर्णन करने के लिए अवसर ही नहीं मिला।

विक्रमोर्वशी के विषय में आप लिखते हैं—

"विक्रमोर्वशीय आद्योपान्त शकुन्तला की तरह सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं। उसमें आदर्श-रमणी-चरित्र-प्रदर्शन तो कालिदास कर सके हैं, पर आदर्श-पुरुष की सृष्टि नहीं कर सके। शायद उन्हें वैसा करना अभीष्ट ही न था।"

अर्थात् राजा पुरुरवा का जो चित्र कालिदास ने विक्रमोर्व्वशीय में खींचा है वह निष्कलङ्क नहीं।

मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय के विषय में,

अन्त में, समालोचक महाशय एक और जगह इस तरह लिखते हैं—

"विक्रमोर्व्वशी और मालविकाग्निमित्र में समाज के लिए हितकर आदर्श-चरित्र नहीं। महाकवि ने वैसा चरित्र-चित्रण करने का प्रयास ही नहीं किया। इन काव्यों में कवि ने प्रणय और प्रणयोन्माद-वर्णना को ही प्रतिपाद्य समझा है। + + + + धर्म्म-भाव-शून्य प्रणय के द्वारा प्रणयकृतरूपी पाश बन्धन के द्वारा प्रणयी का भी अमङ्गल-साधन होता है। ऐसे प्रणय में पड़ने से जितना अमङ्गल होता है धर्म्म-भावमय प्रणय के द्वारा उतना ही, किम्बहुना उससे भी अधिक, मङ्गल होता है। कविने इस तत्व का इन दोनों काव्यों में उद्घाटन नहीं किया"।

बस, अब और अधिक लिखने के लिए स्थान नहीं। जिन्हें कालिदास के काव्यों का तत्व विशेष रूप से जानना हो उन्हें श्रीयुत राजेन्द्रनाथ विद्या-भूषणजी की समग्र पुस्तक पढ़नी चाहिए।

जुलाई १९११।

६—कालिदास के मेघदूत का रहस्य।

कविता-कामिनीके कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है जिसमें पदरूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न, जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है, आँधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँचती है, बिजली गिरने से वह भग्न-प्राय भी हो सकती है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसीका कुछ भी ज़ोर

नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट ही सकता है। काल पाकर और इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती हैं, पर यह अद्भुत भवन न कभी जीर्ण होगा और न कभी इसका ध्वंस ही होगा। प्रत्युत इसकी रमणीयता-वृद्धि की ही आशा है। इसे अजर भी कह सकते हैं और अमर भी।

अलकाधिपति कुबेर के कर्मचारी एक यक्ष ने कुछ अपराध किया। उसे कुबेर ने, एक वर्ष तक, अपनी प्रियतमा पत्नी से दूर जाकर रहने का दण्ड दिया। यक्ष ने इस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अलका छोड़कर यह मध्य-प्रदेश के रामगिरि नामक पर्वत पर आया। वहीं उसने एक वर्ष बिताने का निश्चय किया। आषाढ़ का महीना आने पर बादल आकाश में छा गये। उन्हें देखकर यक्ष का पत्नी-वियोग-दुःख दूना हो गया। वह अपने को भूल सा गया। इसी दशा में उस विरही यक्ष ने मेघ को दूत कल्पना करके, अपनी कुशल-वार्ता अपनी पत्नी के पास पहुँचानी चाही। पहले कुछ थोड़ी सी भूमिका बाँधकर उसने मेघ से अलका जाने का मार्ग बताया, फिर संदेसा कहा। कालिदास ने मेघदूत में इन्हीं बातों का वर्णन किया है।

मेघदूत की कविता सर्वोत्तम कविता का एक बहुत ही अच्छा नमूना है। उसे वही अच्छी तरह समझ सकता

मिलती। कवि के हृदय को कवि के काव्य-मर्म्म को
जान सकते हैं वे भी एक प्रकार के कवि हैं। किसी कवि
काव्य के आकलन करनेवाले का हृदय यदि कहीं कवि के
हृदय सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है। इस दशा
आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा जो कवि को उ
कविता के निर्म्माण करने से मिला होगा। जिस कविता
जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतनी ही अधिक ऊँ
दरजे की समझना चाहिए। इसी तरह, जिस कवि य
समालोचक को किसी काव्य के पाठ या रसास्वादन
जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक उस
कविता का मर्म्म जाननेवाला समझना चाहिए। इन बातें
को ध्यान में रखकर, आइए, देखें, कालिदास ने इस काव्य
में क्या क्या करामातें दिखाई हैं। पर इससे कहीं यह न
समझ लीजिएगा कि हम कवि या समालोचक होने का दावा
करते हैं। हम तो ऐसे महानुभावों के चरणों की रज भी
नहीं। तथापि—

नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः।

इस कविता का विषय—यहाँ तक कि इसका नाम
भी—कालिदास के परवर्ती कवियों को इतना पसन्द आया
है कि इसकी छाया पर हंसदूत, पदाङ्कदूत, पवनदूत, और

*कोकिलदूत आदि कितने ही दूत-काव्य बन गये हैं। यह इस काव्य की लोक-प्रियता का प्रमाण है।

कालिदास को इस काव्य के निर्माण करने का बीज कहाँ से मिला? इसका उत्तर "इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा"—इत्यादि इसी काव्य में है।

"इतनो कहत तोहिं मम प्यारी।
जिमि हनुमत को जनक दुलारी॥
सीस उठाय निरखि घन लै है।
प्रफुलित-चित ह्वै आदर दै है॥"

यक्ष की तरह रामचन्द्र को भी वियोग व्यथा सहनी पड़ी थी। उन्होंने पवनसुत हनुमान् को अपना दूत बनाया था। यक्ष ने मेघ को दूत बनाया। मेघ का साथी पवन है, हनुमान की उत्पत्ति पवन से है। अतएव दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी हुआ। यह सम्बन्ध काकतालीय-सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु मैथिली के पास रामचन्द्र का सँदेशा भेजना वैसा सम्बन्ध नहीं। बहुत सम्भव है, कालिदास को इसी सन्देश-स्मृति ने प्रेरित करके उनसे इस काव्य की रचना कराई हो, बहुत सम्भव है, यह मेघ-सन्देश कालिदास ही का आत्म-सन्देश हो।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर है। वे धाराधिप विक्रम के सभा-रत्न

थे। यदि यह बात सत्य हो तो काश्मीर से धारा के मार्ग में जो नदियाँ, नगर, पर्वत और देश आदि पड़ते हैं उनसे कालिदास का बहुत अच्छा परिचय रहा होगा। धारा और काश्मीर के आसपास के प्रदेश, नगर और पर्वत आदि भी उन्होंने अवश्य देखे होंगे। मेघ को बतलाये गये मार्ग में विशेष करके इन्हींका वर्णन है और यह वर्णन बहुत ही मनोहर और प्रायः यथार्थ है, अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो काश्मीर ही कालिदास की जन्मभूमि हो और जिन वस्तुओं और स्थलों का उन्होंने इस काव्य में वर्णन किया है उनको उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो।

कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरसता, और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति, बढ़ जाती है। इस काव्य में शृङ्गार और करुण-रस के मिश्रण की अधिकता है। यक्ष का सन्देश काल्पनिक उक्तियों से भरा हुआ है। जो मनुष्य काल्पनिक आलाप करता है, या जो प्रेमोद्रेक के कारण अपने प्रेम-पात्र से मीठी मीठी बातें करता है, वह मानो शान्ति के साथ टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता है, न वेग के साथ दौड़ता ही है। अतएव उसकी बातें भुजङ्गप्रयात या वंशस्थ, या और ऐसे ही किसी वृत्त में अच्छी नहीं लगतीं। वह तो ठहर ठहर-

कर, कभी धीमे और कभी कुछ ऊँचे स्वर में, अपने मन के भाव प्रकट करता है। यही जानकर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता-वृत्त का उपयोग इस काव्य में किया है। और, यही जानकर, उनकी देखा-देखी, औरों ने भी, दूत-काव्यों में, इसी वृत्त से काम लिया है।

कवि यदि अपने मन का भाव ऐसे शब्दों में कहे जिनका मतलब, सुनने के साथ ही, सुननेवाले की समझ में आ जाय तो ऐसा काव्य प्रसाद-गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है उसी तरह प्रसाद-गुण-परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों से झलकता है। उसके हृदयङ्गम होने में देर नहीं लगती। अतएव, जिस काव्य में करुणार्द्र-सन्देश और प्रेमातिशय-द्योतक बातें हों उसमें प्रसाद-गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बातें यदि कहतेही समझ में न आ गईं—कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया—तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिए। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुणा क्रन्दन करनेवाले अपनी उक्तियों में ध्वनि, व्यंग्य और क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में, अपने जी की बात कहते हैं। यही समझकर महाकवि कालिदास ने मेघ-दूत को

प्रसाद-गुण से ओतप्रोत भर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है—चुन चुनकर सरल और कोमल शब्द रक्खे हैं, लम्बे लम्बे समासों को पास तक नहीं फटकने दिया।

देवताओं, दानवों और मानवों को छोड़कर कवि-कुल-गुरु ने इस काव्य में एक यक्ष को नायक बनाया है, इसका कारण है। यक्षों के राजा कुबेर हैं। वे धनाधिप हैं। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उनकी दासियाँ हैं। सांसारिक सुख, धन की ही बदौलत, प्राप्त होते हैं। जिनके पास धन नहीं वे इन्द्रियजन्य सुखों का यथेष्ट अनुभव नहीं कर सकते। कुबेर के अनुचर, कर्म्मचारी और पदाधिकारी सब यक्ष ही हैं। अतएव कुबेर के ऐश्वर्य का थोड़ा बहुत भाग उन्हें भी अवश्य ही प्राप्त होता है। इससे जिस यक्ष का वर्णन मेघदूत में है उसके ऐश्वर्यवान् और वैभव-सम्पन्न होने में कुछ भी सन्देह नहीं। उसके घर और उसकी पत्नी आदि के वर्णन से यह बात अच्छी तरह साबित होती है। निर्धन होने पर भी प्रेमी जनों में पति-पत्नी सम्बन्धी प्रेम की मात्रा कम नहीं होती। फिर, जो जन्म ही से धन-सम्पन्न है—जिसने लड़कपन ही से नाना प्रकार के सुख-भोग किये हैं—उसे पत्नी-वियोग होने से कितना दुःख, कितनी हृदय-व्यथा, कितना शोक-सन्ताप हो सकता है, इसका अनुमान

करना कठिन नहीं। ऐसा प्रेमी यदि दो-चार दिन के लिए नहीं, किन्तु पूरे साल भर के लिए, अपनी प्रेयसी से सैकड़ों कोस दूर फेंक दिया जाय तो उसकी विरह-व्याकुलता की मात्रा बहुत ही बढ़ जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे प्रेमी का वियोग-ताप वर्षा में और भी अधिक भीषणता धारण करता है। उस समय वह उसे प्रायः पागल बना देता है। उसके प्रेम की परीक्षा उसी समय होती है। उसी समय इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि इस प्रेमी का प्रेम कैसा है और वह अपनी प्रेयसी को कितना चाहता है। कालिदास ने इस काव्य में आदर्श-प्रेम का चित्र खींचा है। उस चित्र को सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक करने के लिए यक्ष को नायक बनाकर कालिदास ने अपने कवि-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। अतएव आप यह न समझिए कि कवि ने योंही, बिना किसी कारण के, विप्रयोग-शृङ्गार वर्णन करने के लिए, यक्ष का आश्रय लिया है।

विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों

को देखकर वह मुसकरा देता है। क्योंकि इन सबको उसके सामने हार माननी पड़ती है। मेघ-दूत का प्रेमी निर्व्याज प्रेमी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार है। उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है कि ईर्षा, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकारों के लिए जगह ही नहीं। यक्ष को उसके स्वामी कुवेर ने देश से निकाल दिया। परन्तु उसने इस कारण, अपने स्वामी पर ज़रा भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उसको एक भी बुरे और कड़े शब्द से याद नहीं किया। उसकी सारी विप्रयोग-पीड़ा का कारण कुवेर था। पर उसकी निन्दा करने का उसे ख़याल तक नहीं हुआ। फिर, देखिए, उसने अपनी मूर्खता पर भी आक्रोश-विक्रोश नहीं किया। यदि वह अपने काम में असावधानता न करता तो क्यों वह अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया जाता। अपने सारे दुःख-शोक का आदि-कारण वह खुद ही था। परन्तु, इसका भी उसे कुछ ख़याल नहीं। उसने अपने को भी नहीं धिक्कारा। वह धिक्कारता कैसे! उसके हृदय में इस प्रकार के भावों के लिए जगह ही न थी। उसका हृदय तो अपनी प्रेयसी के निर्व्याज-प्रेम से ऊपर तक लबालब भरा हुआ था। वहाँ पर दूसरे विकार रह कैसे सकते थे!

जो ऐसे सच्चे प्रेम-मद से मत्त हो रहा है, जिसकी सारी इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों से खिंचकर एक मात्र प्रेम-

रस में सर्वतोभाव से डूब रही हैं, जिसके प्रेम-परिपूर्ण हृदय में और कोई सांसारिक भावनायें या वासनायें आने का साहस तक नहीं कर सकतीं, वह यदि अचेतन मेघ को दूत बनावे और उसके द्वारा अपनी प्रेयसी के पास अपना सन्देश भेजे तो आश्चर्य ही क्या ? जो मत्त है और जो संसार की प्रत्येक वस्तु में अपने प्रेम-पात्र को देख रहा है उसे यदि जड़-चेतन का भेद मालूम रहे तो फिर उसके प्रेम की उग्रता कैसे स्थिर रह सकती है ? वह प्रेम ही क्या जो इस तरह के भेद-भाव को दूर न कर दे। कीट-योनि में उत्पन्न पतिङ्गों के लिए दीप शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुण से रहित मालूम होती है। महा-प्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतनता का ख़याल न रहे तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। फिर, क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज़ है ? वह मेघदूत के आरम्भ ही में कहता है—

"धाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह
ऐसो घन कैसे दूत-काज भुगतायेगो।
नेह को सँदेसो हाथ चातुर पठैबो जोग
बादर कहो औ ताहि कैसेके सुनायेगो॥
बाढ़ी उत्कण्ठा जस-बुद्धि बिसरानी सब
बाही सों निहोरयो जानि काज करि आवेगो।

कामातुर होत हैं सदाँ मति-
चेत और अचेत माँहि भेद कहाँ

उस समय यक्ष को केवल अ
ख़याल था। यही उसके तन और मन
अन्य सांसारिक ज्ञान उसके चित्त से एक
गया था। यह एक प्रकार की समाधि
इस समाधिस्थ अवस्था में यदि उसने निर्जी
कल्पना किया तो कोई ऐसी बात नहीं की जो
जा सके। कवि का काम वैज्ञानिक के काम
वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में
परन्तु यदि कवि ऐसा करे तो उसकी कविता का
प्रायः सारा का सारा, विनष्ट हो जाय। कवि को
या कल्पक न समझना चाहिए। उसकी सृष्टि ही दू
यह निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव कर
है। अतएव मध्य-भारत से हिमालय की तरफ़ जा
पवन-प्रेरित मेघ को सन्देश-वाहक बनाना ज़रा भी
स्य-दर्शक नहीं। फिर, एक बात और भी है। कवि
यह आशय नहीं कि मेघ सचमुच ही यक्ष का सन्देश
जाय। उसने इस बहाने विप्रयुक्त यक्ष की अवस्था का
वर्णन मात्र किया है और उसके
तरह है

होती है, उन्हें कैसी कैसी बातें सूझती हैं, और उन्हें अपने प्रेमपात्र तक अपना कुशलवृत्त पहुँचाने की कितनी उत्कण्ठा होती है।

यक्ष को अपने मरने-जीने का कुछ ख़याल न था। ख़याल उसे था केवल अपनी प्रियतमा के जीवन का। "दयिताजीविताललम्बनार्थम्"—ही उसने सन्देश भेजा था। उसकी दयिता का जीवन उसके जीवन पर अवलम्बित था। उसके मरने अथवा जीवित होने में सन्देह उत्पन्न होने से उसकी दयिता जीती न रह सकती थी। अतएव यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी को जीती रखने की रामबाण औषधि थी। यह औषधि वह जिसके द्वारा पहुँचाना चाहता था उसके सुख-दुःख का भी उसे बहुत ख़याल था। इसीसे उसने मेघ के लिए ऐसा मार्ग बतलाया जिससे जाने में उसे ज़रा भी कष्ट न हो। उसके मार्ग-श्रम का परिहार होता रहे, अच्छे अच्छे दृश्य भी उसे देखने को मिलें, और देवताओं और तीर्थों के दर्शन भी हों। ऐसा न होने से मेघ भी क्यों उसका सन्देश पहुँचाने को राज़ी होता? फिर, एक बात और भी है। विरह-कातर यक्ष का सन्देश उसकी प्रियतमा तक पहुँचाकर उसे जीवन-दान देना कुछ कम पुण्य का काम नहीं। संसार में परोपकार की बड़ी महिमा है। उसे करने का मौक़ा भी मेघ को मिल रहा है। फिर भला क्यों

न यह यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए राज़ी होगा ? राम-गिरि से अलका तक जाने में विदिशा, उज्जयिनी, अवन्ती, कनखल, रेवा, सिप्रा, भागीरथी, कैलास आदि नगरों, नदियों और पर्वतों के रमणीय दृश्यों का वर्णन कालिदास ने किया है। उन्हें देखने की किसे उत्कण्ठा न होगी ? कौन ऐसा हृदय-हीन होगा जो उज्जयिनी में महाकाल के और कैलास में शङ्कर-पार्वती के दर्शनों से अपनी आत्मा को पावन करने की इच्छा न रक्खे ? कौन ऐसा आत्म-शत्रु होगा जो जङ्गल में लगी हुई आग को जल की धारा से शान्त करके चमरी आदि पशुओं को जल जाने से बचाने का पुण्य-सञ्चय करना न चाहे ? मार्ग रमणीय, देवताओं और तीर्थों के दर्शन, परोपकार करने के साधन—ये सब ऐसी बातें हैं जिनके लिए मूढ़ से मूढ़ मनुष्य भी थोड़ा बहुत कष्ट ख़ुशी से उठा सकता है। मेघ की आत्मा तो आर्द्र होती है; सन्तप्तों को सुखी करना उसका विरुद है। अतएव वह यक्ष का सन्देश प्रसन्नता-पूर्वक पहुँचाने को तैयार हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

अपनी प्रियतमा को जीवित रखने में सहायता देने-वाले मेघ के लिए यक्ष ने जो ऐसा चमत्कारक और सुखद मार्ग बतलाया है वह उसके हृदय के औदार्य्य का दर्शक है। कालिदास ने इस विषय में जो कवि-कौशल दिखाया है

उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि मेघ का मार्ग सुखकर न होता—और, याद रखिए, उसे बहुत दूर जाना था—तो कौन आश्चर्य जो वह अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचता। और, इस दशा में, यक्षिणी की क्या गति होती, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। इसी दुःखद दुर्घटना को टालने के लिए ऐसे अच्छे मार्ग की कल्पना कवि ने की है।

आप कहेंगे, यह निर्व्याज-प्रेम कैसा कि यक्ष ने, सन्देश में, अपनी वियोगिनी पत्नी का कुशल-समाचार तो पीछे पूछा, पहले अपने ही को "अव्यापन्नः" कहकर अपना कुशल-वृत्त बतलाने और अपनी ही वियोग व्यथा का वर्णन करने लगा। इससे तो यही सूचित होता है कि उसे अपने सुख-दुःख का अधिक ख़याल था, यक्षिणी के सुख-दुःख का बहुत ही कम। नहीं, ऐसा न कहिए। यक्ष का यह काम उलटा आपके इस अनुमान का खण्डन करता है। आप इस बात को भूल गये हैं कि यक्षिणी का जीवन यक्ष के जीवन पर ही अवलम्बित है। उसमें संशय उत्पन्न होने से वह जीवित नहीं रह सकती। मेघदूत को पढ़कर यदि आपने इतना भी न जाना तो कुछ न जाना। यक्षिणी के प्राणावलम्ब का हेतु यक्ष है। अतएव उसीके कुशल-समाचार सुनने से यक्षिणी अपना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकती है। यक्ष को स्वार्थी न समझिए। वह अपनी दशा का वर्णन

करके अपनी स्वार्थपरता नहीं प्रकट करता। वह अपनी दयिता के जीवन को नष्ट होने से बचाने की दया कर रहा है। यक्ष के सन्देश की पहली पंक्ति है—

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहम्"।

आप देखिए, इसमें यक्ष ने 'भर्तुः' पद रखकर पूर्वोक्त तथ्य को कितनी स्पष्टता से प्रकट किया है। उसने सन्देश के आदि में ही पति-शब्द का वाचक भर्तृ-शब्द जान बूझकर इसीलिए रक्खा है जिसमें यक्षिणी को तत्काल इस बात का ज्ञान हो जाय कि मेरा पति जीवित है। वियोगिनी पतिव्रताओं के कान में यह शब्द कैसी अमृतवर्षा करता है उसका अन्दाज़ा सभी सहृदय कर सकते हैं। कवि यदि चाहता तो 'भर्तुर्मित्रं' की जगह 'मित्रं भर्तुः' कर सकता था। उससे भी छन्द की गति में व्याघात न आता। परन्तु नहीं, उसने यक्षिणी के कान में सबसे पहिले 'भर्तुः' का सुनाना ही उचित समझा।

पूर्वोक्त पंक्ति में 'भर्तुः' का चमत्कार और अर्थ विशेष से भरा हुआ 'अविधवे' पद भी है। सन्देश की पहली पंक्ति में इसके रखने का भी कारण है। यक्ष ने इसके द्वारा अपनी सहधर्मचारिणी को यह सूचित किया है कि तू विधवा नहीं हो गई—सौभाग्यवती बनी हुई है, तेरा स्वामी अबतक जीता है। इससे अधिक आनन्ददायक समाचार

स्त्री—और पतिप्राणा स्त्री—के लिए और क्या हो सकता है? यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी के लिए सचमुच ही 'श्रोत्रपेय' है।

स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि उनके पति के प्रेम का छोटे से छोटा अंश भी कोई और ले जाय। वे उसके सर्वांश पर अपना अधिकार समझती हैं। वियोगावस्था में उन्हें अपने इस अधिकार के छिन जाने का डर रहता है। यक्ष इस बात को अच्छी तरह जानता है। इसके परिणाम से भी वह अनभिज्ञ नहीं। यही कारण है जो वह अपनी वियोग-कातरता का काल्पनिक वर्णन कर रहा है। यही कारण है जो वह छोटी छोटी चीज़ों में भी अपनी पत्नी की सदृशता ढूँढ़ रहा है। यही कारण है जो वह उत्तर-दिशा से आये हुए सुरभित पवन के स्पर्श को भी बहुत कुछ समझ रहा है। वह यह बतला रहा है कि दूर हो जाने से मेरे प्रेम में कमी नहीं हो गई; प्रत्युत वह पहले से भी अधिक प्रगाढ़ हो गया है। अतएव तू अपने मन में किसी प्रकार की अनुचित आशङ्का को स्थान न दे।

यक्ष के निःस्वार्थ और निर्व्याज-प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह अपने कुशल-समाचार भेजकर और अपनी विरह-व्याकुलता का वर्णन करके ही चुप नहीं रहा। उसे शङ्का हुई कि कहीं मेरी पत्नी इस

सन्देश को बनावटी न समझे। प्रेमियों की दशा बड़ी ही विचित्र होती है। वे न कुछ को बहुत कुछ समझने लगते हैं और हवा में गाँठें लगाना भी वे खूब ही जानते हैं। यक्ष की अजीब अवस्था है। उसे डर है कि कहीं ऐसा न हो कि इतना आश्वासन देने पर भी यक्षिणी इन बातों पर पूर्ण विश्वास न करे। अतएव इस सन्देह का भञ्जन करना भी उसने आवश्यक समझा। इसीलिए उसे सन्देश में यह कहना पड़ा—

"और कहूँ सुनि एक दिना हियरा लगि मेरे तू सोइ रही
जागत नींद न बेर भई जगि औचक रोय उठी तबही।
पूछी जु मैं धन बारहिबार सो तैं मुसकायके ऐसे कही
देखति ही सपने छलिया तुमने एक सौति की बाँह गही॥"

अब सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यक्ष के जीवित होने का इससे अधिक विश्वसनीय प्रमाण और क्या हो सकता है?

मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी-सम्बन्धी है। यह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है। यक्ष अपने और अपनी प्रेयसी के जीवन को अन्योन्याश्रित समझता है। यक्ष जिस तरह अपना सन्देश भेजकर पत्नी की प्राण-रक्षा चाहता है उसी तरह, बहुत सम्भव है, उसकी पत्नी होने के कारण पति की प्राणधारणा के विषय में

सशङ्क रही होगी। प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है, प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है—इसके कितने ही उदाहरण इस देश में पाये जाते हैं। गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। अन्यथा—

नो चेदूवं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः।
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

उनके मुखसे कभी न निकलता। अतएव प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को भी जान सकेगा।

परन्तु, जो लोग उस रास्ते नहीं गये उनके मनोरञ्जन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री मेघदूत में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुञ्ज देखने को मिलेंगे जिनमें वनचरों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षाऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर आते हैं। दशार्ण की खेतकी कभी आपने देखी है? विदिशा की वेत्रवती की लहरों का भ्रू भङ्ग कभी आपने अवलोकन किया है? उस प्रान्त के उपवनों में चमेली की कलियों को चुननेवाली पुष्पलावियों से आपका

उत्थान होगा उनका वह अनुभव तो अवश्य करेगा; परन्
उनको शब्द-द्वारा, चित्र की तरह, दूसरों को दिखा
सकेगा। इसके लिए उसे कालिदास की शरण आना
पड़ेगा। कालिदास ही में इस तरह के चित्र दिखाने की
लोकोत्तर शक्ति है। वे ऐसे कवि हैं जो दूसरों के विकारों
के चित्र खींचकर, नामी चित्रकारों के भी चित्राङ्कन-अभिमान
को चूर्ण कर सकते हैं।

श्रीहर्ष ने लिखा है कि दमयन्ती की प्राप्ति के
"अनन्तर नल के घर में वे वे बातें हुईं जो "महा-कविभिरप्य
पीक्षिताः" थीं, अर्थात् जिनको महाकवियों ने भी नहीं
देखा था। इससे यह सूचित होता है कि जिन बातों को
और लोग नहीं देख सकते उनको भी महाकवि देख लेते
हैं। पर नल ने महाकवियों को भी मात कर दिया। क्योंकि
उसने ऐसी भी अनेक बातों का अनुभव किया—उनको कर
दिखाया—जिनका स्वप्न महाकवियों तक ने भी नहीं देखा था।
इसकी सत्यता की गवाही महाकवि ही दे सकते हैं। पर एक
बात ज़रूर सच है कि जो बातें औरों को नहीं सूझतीं वे कवियों
को ज़रूर सूझ जाती हैं। यही नहीं, किन्तु वे उनका वर्णन भी
कर सकते हैं। और ऐसा अच्छा कर सकते हैं कि हृदय
पर वर्णित विषय की तसवीर सी खींच देते हैं। जितने रस
- जितने भाव हैं, सब मन के विकार हैं, और कुछ नहीं। इन

विकारों के उत्कृष्ट शब्द-चित्र का ही नाम कविता है।

कुमार-सम्भव की पहले-पहल सैर किये हमें कोई १८ वर्ष हुए। हम सातवाँ सर्ग पढ़ रहे थे। इस सर्ग में शङ्कर ने अरुन्धती-सहित सप्तर्षियों को हिमवान् के पास भेजकर पार्वती की मँगनी की है। यह उन्होंने पार्वती ही की इच्छा से किया है। जब उन्होंने पार्व्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके पाणिग्रहण का अभिवचन दिया, तब पार्व्वती ने अपनी सखी के द्वारा उनसे यह कहलाया कि आप कृपा करके मुझे मेरे पिता हिमवान् से माँग लें और उनकी अनुमति से यथाविधि मेरा ग्रहण करें। शङ्कर ने यह बात स्वीकार कर ली। इसलिए उन्होंने सप्तर्षियों को हिमाचल के पास भेजा। वे हिमालय के घर गये। हिमालय उस समय बैठे हुए थे। उनकी पत्नी मेना और कन्या पार्व्वती भी वहीं उनके पास थी। इन दोनों के सामने ही ऋषियों ने पार्व्वती के विवाह की बात छेड़ी। पार्व्वती सयानी थी। विवाह की बातें समझती थी। शिव को स्वामी बनाने के ही इरादे से उसने तप किया था। परन्तु विवाह-वार्ता आरम्भ होने पर, कई श्लोकों तक पार्व्वती की किसी चेष्टा का वर्णन जब हमको न मिला तब हमारे हृदय में कालिदास पर कुछ कुछ विराग उत्पन्न हुआ। जिसके विवाह की बातचीत हो रही है वह समझदार है; वह वहीं

बैठी हुई है। वह मन ही मन प्रसन्न ज़रूर होती होगी। फिर उसकी किसी चेष्टा का उल्लेख क्यों नहीं ? यह कैसी महाकविता है ? साधारण आदमियों को भी यह बात खटके, पर महाकवि को नहीं ? आश्चर्य ! इस प्रकार के उपालम्भ का किला हमारे मन में बनकर तैयार होने ही को था कि कालिदास की कविता-रूपिणी विशाल तोप से एक छोटे, पर बड़े ही प्रभावशाली, गोले ने निकलकर उसे एक-दम ढहा दिया। उसकी चहार-दीवारी चूर हो गई। उसके बुर्ज ज़मीन पर गिरकर ढेर हो गये। उसके साथ ही एक ऐसे मार्मिक कवि की सहृदयता पर मन में आक्षेप करने के लिए हमको खेद भी हुआ और अफ़सोस भी हुआ दो ही एक श्लोक हम आगे बढ़े थे कि कालिदास ने अपने महाकवित्व का वह परिचय हमें दिया जो हमको कभी न भूलेगा। उससे, उस समय, जो आनन्द हमको हुआ वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। सर्गान्त के पहले ही कालिदास ने सहसा कह दिया—

> एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इस तरह देवर्षि जिस समय विवाह की बातें कर रहे थे, उस समय पिता के पास सिर झुकाये हुए पार्वती क्या करती थी ? कुछ नहीं। चुपचाप बैठी हुई

कमलों के दलों को वह सिर्फ गिन रही थी। कैसी अद्‌भुत कविता है! कैसा अद्‌भुत भाव है! मन में उत्पन्न हुए आनन्दातिशय को छिपाने की कोशिश करके भी पार्व्वती ने कमल-दलों को गिनकर उसे स्पष्ट प्रकट कर दिया। उस समय जो विकार पार्व्वती के हृदय में उद्‌भूत हुए थे उनको शब्द-द्वारा बतलाने की यदि हज़ार कोशिशें की जातीं तो भी उस शब्द-चित्र में वह रसानुभव न होता जो इस निरर्थक कमलगणना की उक्ति से हुआ है। सिर्फ महाकवि ही ऐसी उक्तियाँ कह सकते हैं।

इस कविता-प्रसङ्ग से यह बात सूचित होती है कि कालिदास के ज़माने में तरुण लड़कियाँ माता-पिता के पास, बाहरी आदमियों के सामने भी, निस्सङ्कोच बैठती थीं और अपने विवाह तक की भी बातें चुपचाप बैठी सुना करती थीं, उठ न जाती थीं। इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि उस समय वर या वर-पक्षवाले भी कन्या की याचना करते थे। राजपूतों में इस रीति को बन्द हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ। शायद उनमें यह रीति अबतक प्रचलित हो। परन्तु शङ्कर के मुँह से "याचितव्यो हिमालयः"—यह बात निकलते ज़रा खटकती है। यदि हिमवान् .खुद याचना करते तो क्या हानि थी?

कुछ समय हुआ, हमें विवाह-समारम्भ-सम्बन्धिनी

सी बातें अपने जन्म-स्थान में सुनने को मिलीं। इससे
-सम्भव की वैवाहिक उक्तियाँ हमको स्मरण हो आईं
कालिदास के दो-चार श्लोक हमारे हृदय में फिर से
ी गये। उनको भी हम यहाँ पर सुनाना चाहते हैं।

पार्वती के विवाह की तैयारी हो रही है। मङ्गल-
के अनन्तर एक सखी उसका शृङ्गार कर रही है। जब
रों पर लाक्षारस (महावर) लगा चुकी तब एक पैर
थ रखकर पार्वती से यह कहती है—

> पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन
> स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
> सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
> र्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

र महावर लगाकर और आशीर्वाद देकर, पार्वती की
ने उससे दिल्लगी में यह कहा कि इसी पैर से तू अपने
की शोभाशाली चन्द्रकला को स्पर्श कीजियो। यह
पार्वती मुँह से तो कुछ न बोली; पर अपना
द फेंककर उससे सखी को उसने मारा। पार्वती
क्रिया में विहृत नामक अनुभाव है। उसकी यह
पुन ही सामयिक हुई। कुछ न कहकर भी इसके
दा उसने अपना हृदय खोलकर सखी के सामने रख
"स्पृश" अर्थात् "स्पर्श कर", यह सिर्फ़ दो अक्षर का

संस्कृत-पद है। परन्तु इस इतने छोटे पद के पेट में एक नहीं, अनेक व्यंग्य भरे हुए हैं। और वे बहुत गूढ़ भी नहीं हैं। ऐसे हैं जिनका स्वाद सामान्य जन भी सहज में ले सकते हैं। पर कालिदासजी हमको माफ़ करें, हमें यहाँ पर एक शिकायत है। पार्वती की तत्कालीन चेष्टा-वर्णन में हमें एक बात की कमी मालूम होती है। यहाँ पर "निर्वचनं" (चुपचाप) के आगे "सस्मितं" "सभ्रूभंगं" या "कुटिलेक्षणम्" के सदृश किसी क्रिया-विशेषण की बड़ी आवश्यकता थी। "निर्वचनं" चाहे न भी होता, पर इनमें से एकाध विशेषण होना चाहिए था। सारे सरस, सहृदय और काव्य-कर्मज्ञ जन इसके प्रमाण हैं। ऐसे अवसर पर सम्भव नहीं कि स्मित या भ्रूभङ्ग न हो। रघुवंश में कुछ कुछ एक ऐसे ही मौके पर ख़ुद कालिदास ही ने "वधूरसूयाकुटिलं ददर्श"—कहा भी है। स्वयंवर में इन्दुमती ने अज-कुमार को पसन्द किया। यह बात इन्दुमती की सखी सुनन्दा ताड़ गई। तब उसने इन्दुमती से दिल्लगी की। उसने कहा—अब आप यहाँ इस राजकुमार के सामने खड़ी क्या कर रही हो! चलो, और किसीको देखो। यह सुनतेही इन्दुमती ने सुनन्दा को तिरछी नज़र से देखकर असूया प्रकट की। वैसा ही कोई अनुभाव यहाँ भी होता तो क्या ही अच्छा होता।

जब पार्व्वती का वैवाहिक शृङ्गार हो चुका तब उसने आईने में अपना सुरूप देखा। इस पर महाकविजी कहते हैं—

आत्मानमालोक्य च शोभमान
मादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव
स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥

अपने शोभाशाली रूप को निश्चल नयनों से आईने में देखकर शृङ्गार की प्राप्ति के लिए पार्व्वती बहुत ही व्यग्र हो उठी। उसकी उत्सुकता यहाँ तक बढ़ गई कि उसने तत्काल ही अपने भावी पति शङ्कर के सामने आने की अभिलाषा मन में प्रकट की। उसी रात को उसका पाणिग्रहण था। परन्तु उस समय तक ठहरना उसे नागवार हुआ। सच है, सिर्फ़ अपने प्रियतम के देखने के लिए ही वेशभूषा का आडम्बर किया जाता है। उसी फल के पाने की अभिलाषा से रूप-प्रसाधन का परिश्रम स्त्रियाँ उठाती हैं। यदि उसकी प्राप्ति न हो तो यह परिश्रम ही व्यर्थ जाय। इससे यह सूचित हुआ कि और किसी निमित्त वह रचना नहीं और यदि हो भी तो वह व्यर्थ है। क्योंकि पार्व्वती के समान त्रैलोक्यमोहिनी नारी का एक-मात्र फल जब अपने ऊपर अपने प्रेममूर्त्ति पति की एक दृष्टि पड़ जाना ही है तब प्राकृत स्त्रियों की बात

ही क्या ! इस पद्य की आत्मा, इसका प्राण, इसका जीवन "स्त्रीणांप्रिया लोकफलोहि वेषः"—यह इसका चौथा चरण है।

इस प्रकार वसन-भूषणों से सज्जित पार्वती को उसकी माता मेना ने आज्ञा दी कि वह नगर की सौभाग्यवती स्त्रियों को प्रणाम करे। आज्ञानुसार पार्वती ने उनके सामने सिर झुकाया। इस पर कालिदास ने यह कविता की—

> अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्यु
> रित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।
> तया तु तस्यार्द्धशरीरभाजा
> पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि॥

स्त्रियों को स्त्रियाँ प्रायः इस तरह के आशीर्वाद देती हैं, "चिरञ्जीव", "चिरसौभाग्यवती भव", "बहुपुत्रा भव"। परन्तु उनके लिए इन सब से अधिक प्यारी आशीष "पति-प्रेयसी भव" है। स्त्रियों के लिए पति की प्रेयसी होने से बढ़कर और कोई सुख नहीं—और कोई आशीष नहीं। सौभाग्यवती होकर भी, बहुपुत्रा होकर भी, सम्भव है, स्त्रियाँ पति-प्रेयसी न हों। पति उनसे निर्विशेष प्रेम न रक्खे। इसीलिए महाकवि बहुधा यही पिछली आशीष स्त्रियों को देते हैं। यही कारण है जो तुलसीदास ने कहा है—

> होहु सदा तुम पियहि पियारी।
> चिर अहियात असीस हमारी॥

इसी ख़याल से कालिदास ने भी ऊपर का श्लोक कहा है। उसमें आप कहते हैं—सिर झुकाये हुए उमा को उन सती स्त्रियों ने यह आशीर्वाद दिया कि अपने पति का अखण्डित, अर्थात् सम्पूर्ण, प्रेम—जिसका ज़रा भी अंश और किसीको नहीं मिला है—तुझे मिले। आशीर्वाद हमेशा बढ़कर दिया जाता है और पूरे आशीर्वाद का फल विरली ही स्त्री को मिलता है। परन्तु उमा ठहरी उस्ताद। आशीर्वाद देनेवाली उन सौभाग्यवती नारियों के आशीर्वाद से भी हज़ारों गुने अधिक फल को वह पा बैठी। उसने अपने पति का आधा शरीर ही छीन लिया। वह अपने पति की इतनी प्रेयसी हो गई कि पति ने उसे अपने आधे शरीर में ही स्थान दे दिया। अर्थात् प्रेम की पराकाष्ठा हो गई। पार्वती ने प्रेम-प्राप्ति की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया। और यह सीमोल्लंघन कालिदास की बदौलत एक नये रूप-रङ्ग में हम लोगों को देखने को मिला।

जब कालिदास ने पार्वती से फ़ुरसत पाई तब आप शङ्कर की तरफ़ बढ़े। उनकी बारात का साजोसामान ठीक करके, उनके साथ विवाह-समारम्भ में शामिल होनेवाले देवतादिकों को एकत्र करके, और दूलह की अलौकिक रूप-रचना आदि का वर्णन करके, आपने जब उन्हें तैयार पाया, तब उनके यहाँ आये हुए लोकपालादि को उनके

सामने पेश किया। जिस ज़माने का हाल कालिदास ने लिखा है, जान पड़ता है, उस ज़माने का रङ्ग-ढङ्ग भी आजकल का ऐसा था। किसी बड़े अफसर से भेंट करने में जो जो माज़-मख़्रे आजकल होते हैं वे उस ज़माने में भी होते थे। लोकपालों और देवताओं ने शङ्कर के दरवान नन्दी से जब बहुत कुछ मिन्नत-आरज़ू की तब कहीं आपने अपने मालिक से मुलाक़ात कराई। क़ायदे के साथ आप एक एक को शङ्कर के सामने ले गये और कहा—"यह इन्द्र आपको प्रणाम करते हैं, यह चन्द्र आपके सामने हाज़िर हैं, यह उपेन्द्र आपके साथ चलने की अभिलाषा से आये हैं"। इस प्रकार परिचय कराये जाने पर सबके प्रणाम और नमस्कार आदि का उत्तर महादेव ने किस प्रकार दिया, सो सुनिए—

> कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं
> वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
> आलोकमात्रेण सुरानशेषान्
> सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥

सिर हिलाकर ब्रह्मा के, सम्भाषण से विष्णु के, मुसकान से इन्द्र के, और सिर्फ एक नज़र से देखकर और और देवताओं के प्रणाम और नमस्कार आदि का उत्तर शङ्कर ने दिया। अर्थात् जो जैसा था उसकी बड़ाई-बड़ाई

के हिसाब से आपने सबकी ख़ातिरदारी की। आजकल गवर्नमेंट के पोलिटिकल महकमे ने जिस तरह स्वदेशी राजाओं की इज्ज़त-आबरू को तौलकर सबकी सलामी और मुलाक़ात वग़ैरह के क़ायदे बनाये हैं, जान पड़ता है, वैसे ही क़ायदे कालिदास के ज़माने में भी थे।

जब शङ्कर ने अपने सहचारियों के साथ हिमवान् के पुर में प्रवेश किया तब स्त्रियों में विलक्षण खलबली मच गई। जो जिस दशा में थी वह उसी दशा में विरूपाक्ष पर को देखने दौड़ी। यहाँ पर कालिदास की एक बात हमको पसन्द नहीं आई। इस मौक़े पर उन्होंने कुमार-सम्भव में जो कविता की है उसका बहुतसा अंश उन्होंने उठाकर वैसा ही रघुवंश में इन्दुमती और अज के विवाह-वर्णन में रख दिया है। दस-पाँच श्लोक बिलकुल वैसे ही ले लिए हैं। कुछ श्लोकों के एक-एक दो-दो चरण आपने तद्वत् ले लिये हैं। कुछ श्लोकों का सिर्फ़ भाव आपने थोड़ा सा बदल दिया है। ऐसा करने में यद्यपि उन्होंने किसीकी चोरी नहीं की, तथापि उन पर न्यूनता का दोष ज़रूर आता है। जो महाकवि है, जिस पर सरस्वती की अकम्प कृपा है, वह एक प्रसङ्ग की कविता से दूसरे प्रसङ्ग की कविता को क्यों अनुरञ्जित करे? क्यों न वह नई नई रचना से अपने

प्रसङ्ग की रचना करते हुए अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति का परिचय दे ! अस्तु।

इस मौक़े पर स्त्रियों की जिन चेष्टाओं का वर्णन कालिदास ने किया है उन सब को हम छोड़े देते हैं। इस विषय का सिर्फ़ एक ही पद्य हम देते हैं। वह यह है—

> तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो
> नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
> तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां
> सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा॥

उस एक-मात्र दर्शनीय शङ्कर को—उस एक-मात्र तमाशे को—स्त्रियाँ अपनी आँखों से पीने सी लगीं। सुनने और स्पर्श करने आदि दूसरे विषयों की तरफ़ से उनकी शेष इन्द्रियाँ एक साथ ही खिंच आईं और वे सब उनकी आँखों में घुस सी गईं। यह न समझिए कि बाक़ी बची हुई इन्द्रियों का कुछ ही अंश उन स्त्रियों की आँखों में चला गया। नहीं, उनका सर्वांश उसमें प्रवेश कर गया, उनकी आत्मा आँखों में घुस गई। अर्थात् जब कान, नाक और त्वक् आदि ने देखा कि उनके लिए कोई काम ही नहीं रहा, तब अपनी वृत्ति को छोड़कर उन्होंने आँखों के भीतर अपना अपना स्थान कर लिया और वे भी आँखों का काम करने

लगीं। अर्थात् वे भी शङ्कर को देखने में लीन हो गईं। जब किसी का व्यवसाय मारा जाता है तब वह लाचार होकर जिसका अधिक चलन होता है वही व्यवसाय करने लगता है। ठीक वही दशा हिमालय के नगर में रहनेवाली स्त्रियों की इन्द्रियों की हुई। कैसी अद्भुत उक्ति है!

वधू-वर के रूप में जिस समय उमा और महेश्वर अग्नि की प्रदक्षिणा करने लगे उस समय कालिदास को एक गहरी वैज्ञानिक उपमा सूझी। आप कहते हैं—

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानो—
रुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमान—
मन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥

एक दूसरे से मिला हुआ, अर्थात् संश्लिष्ट, दिन और रात का जोड़ा मेरु-पर्वत के चारों तरफ़ जिस तरह सुशोभित होता है, उसी तरह बढ़ी हुई लपटवाली आग की प्रदक्षिणा करते समय उमा और महेश्वर का जोड़ा शोभायमान हुआ। श्रीयुक्त बाल गङ्गाधर तिलक ने अपनी वेद-विषयक नई पुस्तक में लिखा है कि मेरु-प्रदेश से प्राचीन आर्यों का मतलब उत्तरी ध्रुव के आसपास के देश से था। क्योंकि वहीं दिन और रात एक-दूसरे से लिपटे हुए मालूम होते हैं।

जान पड़ता है, यह सिद्धान्त हमारे महाकवि को पहले ही से विदित था। यदि विदित न होता तो ऐसे वैज्ञानिक तत्त्व से भरी हुई उपमा आप किस तरह दे सकते ? कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि पृथ्वी का घूमना और मेरु के पास दिन और रात का परस्पर संलग्न होना कालिदास को अवश्य मालूम था।

अब और सब वैवाहिक आचार हो चुके तब विवाह-मण्डप के नीचे ही, सब के समक्ष, कालिदास ने पार्वती को बोलने के लिए लाचार किया। इस विषय का यह अन्तिम श्लोक सुनिए—

> ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुव-दर्शनाय
> प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
> सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य
> ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥

ध्रुव-तारा अचल माना जाता है। अतएव यह सूचित करने के लिए कि हमारा-तुम्हारा विवाह-सम्बन्ध उसीकी तरह अचल हो, प्रियदर्शन पति ने पार्वती से कहा कि अब तुम ज़रा ध्रुव को देख लो। यह सुनकर पार्वती ने अपना मुँह ज़रा ऊपर की तरफ किया और लज्जा के कारण बहुत धीमे स्वर में किसी तरह यह कहा कि "देख लिया"। यहाँ पर "दृष्टः" अर्थात् "देख लिया", यह पद इस श्लोक की

आत्मा है। यही इसका जीव है। इससे और इसके पहले के और भी कई कुमार-सम्भव के श्लोकों से यह जान पड़ता है कि कालिदास के समय में उमर होने ही पर कन्याओं का विवाह होता था; और विवाह-पद्धति, किंवा गृह्य-सूत्रों में कहे गये वचनों के मतलब और महत्व को वे अच्छी तरह समझती थीं। यही नहीं, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर विवाह-मण्डप में वर के सामने वे बोलती भी थीं।

जून १९०५।

८—कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल।

चित्रकला और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्र-द्वारा व्यक्त करता है उसी बात को कवि कविता-द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनन्द होता है, चित्र के दर्शन से।

कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्चतर है, इसका निर्णय करना कठिन है। क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता-द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है उसी प्रकार कविता-गत किसी भाव या दृश्य को चित्र द्वारा प्रकट करने से भी आनन्द की प्राप्ति होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं; कविता पढ़ने या सुनने से कान। अतएव यदि एक ही वस्तु, दृश्य या भाव का व्यक्ती-करण कविता और चित्र दोनों के द्वारा हो तो नेत्र और कान दोनों की एक ही साथ तृप्ति होने से अवश्य ही आनन्दातिरेक की वृद्धि होगी। यही समझकर भारत के आधुनिक चित्रकारों ने पुराणों और प्राचीन काव्यों के मुख्य मुख्य दृश्यों के चित्र खींचकर आँख और कान के अनुपातगत पारस्परिक विवाद को दूर करने की चेष्टा की है।

प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्राचीन काव्यों में अनन्त स्थल ऐसे हैं जिन पर बड़े ही भाव-भरे चित्र तैयार किये जा सकते हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस के स्थल-विशेषों पर कितने मनोहर चित्र बनाये जा सकते हैं, यह बात इंडियन प्रेस के द्वारा प्रकाशित रामचरित-मानस के देखने से मालूम हो सकती है। जब पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं तब शाह, बादशाह, नवाब, महाराजा और अमीर आदमी रामायण, महाभारत, शाहनामा, बाबरनामा, और गुलिस्ताँ आदि ग्रन्थों

को खुशख़त लिखाकर उनके प्रायः प्रति पृष्ठ को प्रसिद्ध प्रसिद्ध चित्रकारों द्वारा चित्रित कराते थे। ऐसे ग्रन्थ बड़े ही बहु-मूल्य होते थे। इनके दर्शन अब भी कभी कभी हो जाते हैं। अब तो ये प्रदर्शिनियों में रक्खे जाते हैं और दर्शक उन्हें एक अजूबा चीज़ समझते हैं।

कालिदास कितने ऊँचे दरजे के कवि थे, इस बात के बतलाने की ज़रूरत नहीं। उनके काव्यों को कभी किसी ने सचित्र लिखवाने का प्रयत्न किया है या नहीं, मालूम नहीं। शायद बहुत पुराने ज़माने में किसी ने किया हो तो किया हो। या कहीं किसी रियासत के पुस्तकागार में ऐसा कोई ग्रन्थ पड़ा हो तो हो सकता है। हाँ, इधर, कुछ समय से कालिदास के काव्यों में वर्णित दृश्यों और पात्रों के चित्र बनने लगे हैं। शकुन्तला-जन्म, शकुन्तला-मेनका-मिलन, शकुन्तला पत्र-लेखन, शकुन्तला-दुष्यन्त, दुर्वासा-शाप, उर्वशी और पुरुरवा, मदन-दहन, प्राण-घातक-माला, मेघदूत का विरही यक्ष—इत्यादि चित्र ऐसे ही चित्रों में से हैं। पर ये दाल में नमक के भी बराबर नहीं। कालिदास की कविता के सम्बन्ध में सैकड़ों चित्र बन सकते हैं और बहुत उत्तम उत्तम बन सकते हैं। उनके बन जाने से और उनका मिलान तत्सम्बन्धिनी कविता के साथ करने से इस महाकवि की कीर्ति और भी उज्ज्वलतर हो सकती है। पाश्चात्य देशों ने

अपने अपने देश के विख्यात कवियों के काव्यों के सचित्र संस्करण निकाले हैं। देखें, हमारे अभागे भारत के प्राचीन संस्कृत-कवियों के काव्य कब सचित्र निकलते हैं।

कालिदास के काव्यों पर वही चित्रकार अच्छा चित्र बना सकेगा जिसने उन्हें अच्छी तरह पढ़ा और समझा है। इसके लिए संस्कृत जानने की आवश्यकता है। राजा रविवर्म्मा संस्कृतज्ञ थे। कलकत्ते के दो-एक वर्तमान चित्रकार भी संस्कृत जानते हैं। इसीसे वे भी इस विषय के अच्छे चित्र बना सके हैं। हमने दो-एक बार इस तरह के चित्र बनवाने की चेष्टा की, पर हमारी चेष्टा व्यर्थ गई। कालिदास के काव्यों में ऐसे तो सैकड़ों स्थल हैं, जिन पर अच्छे से अच्छे चित्र बन सकते हैं, तथापि उनमें से कुछ स्थान-विशेष बड़े ही मारके के हैं। उस तरह के स्थल-विशेष दो-चार नहीं, बहुत हैं। उन सबका उल्लेख इस लेख में न हो सकेगा। केवल छः-सात का उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

[१]

रघुवंश की बात है। राजा दिलीप निरपत्य थे। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वे रानी-सहित वशिष्ठ के आश्रम में पधारे। वशिष्ठ ने कहा—हमारी नन्दिनी नामक धेनु की सेवा करो। वह तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेगी। राजा रोज़

उसे जङ्गल में चराने के लिए ले जाने लगे। कई रोज़ तक उन्होंने उसकी बड़ी सेवा की। तब नन्दिनी ने उनकी भक्ति की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उसने माया रची। वह हिमालय की एक कन्दरा में जा घुसी। वहाँ एक मायावी शेर ने उसे पकड़ा। वह चिल्लाने लगी। राजा दौड़ा। उसने शेर पर बाण चलाना चाहा। पर हाथ ही उसका धनुष पर चिपक गया। बाण न छूट सका। तब शेर मनुष्य की वाणी बोला। उसने कहा, मैं महादेव का गण हूँ। यहाँ पर जो यह देवदारु का पेड़ है इसीकी रक्षा करता हूँ। आये गये जीवों को खाकर यहीं अपनी क्षुधा शान्त करने की आज्ञा मुझे शङ्कर ने दी है। इस गाय को मैं न छोड़ूँगा। तुम अपने घर जाओ। राजा ने उसे बहुत कुछ समझाया। पर उसने एक न मानी। तब दिलीप ने कहा—इस गाय की रक्षा का भार मैंने अपने ऊपर लिया है। तुम मुझे खाकर अपनी क्षुधा शान्त करो। पर इसे छोड़ दो। इस पर शेर ने राजा को मूर्ख बनाया। उसने कहा—क्या तुम पागल हो गये हो। इतना बड़ा राज्य, इतना विशाल ऐश्वर्य्य, यह नई उम्र,—इस सब को एक गाय के लिए छोड़ते हो। अजी, एक क्या, तुम इस तरह की और दस-बीस गायें वशिष्ठ को दे सकते हो। यह न सही। इसे मुझे खा लेने दो। दिलीप बोले—मैं इस नश्वर शरीर की परवा नहीं करता। इसकी

[कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल ।

जाता है। अतएव इस घटना का दर्शक चित्र क्या बनाये जाने योग्य नहीं?

[२]

विदर्भ-नरेश के यहाँ, कुण्डिनपुर में, उसकी बहन इन्दुमती का स्वयंवर है। अज-कुमार भी स्वयंवर में गया है। स्वयंवर-स्थल में कितने ही राजा सजे हुए बैठे हैं। इन्दुमती के हाथ में संवरण-माला है। सुनन्दा नाम की एक प्रगल्भा स्त्री उसके साथ है। जिस राजा के सामने इन्दुमती जाती है, सुनन्दा उसके रूप, गुण, ऐश्वर्य आदि का वर्णन करती है। इन्दुमती इस तरह कई एक राजाओं और राज-कुमारों को निराश करके अज के पास पहुँची। सुनन्दा ने उसका गुण-वर्णन बड़े ही मधुर और मनोहर शब्दों में किया। जब अज-विषयक वर्णन करके सुनन्दा चुप हो गई तब इन्दुमती ने आँख उठाकर अज की तरफ़ देखा। देखते ही वह उस पर आसक्त हो गई। मुँह से तो वह कुछ न बोल सकी। पर उसके हृदय की प्रीति, रोमाञ्च के बहाने, शरीर से फूट निकली। सुनन्दा यह बात ताड़ गई। तब उसे दिल्लगी सूझी। उसकी वह दिल्लगी और इन्दुमती का उत्तर, रघुवंश में जैसा है, सुनिए—

तथागतायां परिहासपूर्वं

सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।

आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां
वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥

आर्य्ये ! चलो, आगे बढ़ो, और किसी राजा को देखो, यहाँ कब तक खड़ी रहोगी ! इस व्यंग्य-वचन को सुनकर इन्दुमती ने बेतरह आँखें तिरछी करके उसकी तरफ़ देखा। तिरछी आँख से देखने के इस दृश्य में जो भाव है वह सर्वथा चित्रित किये जाने योग्य है।

[३]

इन्दुमती ने अज को ही पसन्द किया। अतएव दोनों का विवाह हो गया। इन्दुमती को लेकर अज अयोध्या को लौटा। पर स्वयंवर में निराश हुए राजाओं ने उसे मार्ग में ही रोका। उन्होंने चाहा कि इन्दुमती को अज से ज़बरदस्ती छीन लें। अज ने यह देखकर अपने पिता के मन्त्री से कहा कि कुछ योद्धाओं सहित तुम इन्दुमती की रक्षा करो। मैं शत्रुओं की ख़बर लेता हूँ। दोनों पक्षों में घोर युद्ध हुआ। अन्त को अज ने सम्मोहनास्त्र-द्वारा वैरियों को समर-भूमि में कठपुतली बना दिया। उनके हाथ-पैर बेकार हो गये। जहाँ के तहाँ वे लोग चित्र-लिखित से खड़े रह गये। उनकी ऐसी दुर्दशा करके अज इन्दुमती के पास लौट आया—

स चापकोटीनिहितैकबाहुः
शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।

> ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दु—
> भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे॥

उस समय उसका रूप कैसा था, सुनिए। धन्वा का एक सिरा तो ज़मीन पर था, दूसरे सिरे पर उसका हाथ था। शिरस्त्राण को सिर से उतारकर उसने दूसरे हाथ में ले लिया था। ललाट पर उसके पसीने के बूँद छाये हुए थे। इस रूप में उसने अपनी डरी हुई प्रियतमा इन्दुमती से कहा—

> इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्
> वैदर्भि पश्यानुमता मयासि।
> एवंविधेनाहवचेष्टितेन
> त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः॥

हे वैदर्भि! मेरे कहने से इन लोगों को तो तू ज़रा देख ले। ये बेचारे ऐसे हत-वीर्य्य और सम्मोहित हो गये हैं कि एक बच्चा भी इनके हाथ से हथियार छीन सकता है। ऐसे ही पराक्रम और युद्ध-कौशल के बल पर ये तुझे मेरे हाथ से छीन लेना चाहते हैं!

इस उक्ति को सुनकर इन्दुमती का डर छूट गया और उसके मुख पर एक अपूर्व कान्ति आविर्भूत हुई। अज का पूर्वोक्त रूप और सामने खड़ी हुई उसी नव-विवाहिता वधू का पहले डरा हुआ, परन्तु पीछे से प्रसन्न हुआ,

पार्व्वती ने उनका उचित आतिथ्य किया। शङ्कर ने तपस्या का कारण पूछा। पार्वती की सखियों ने सब हाल कहा। सुनकर वटु-वेशधारी शङ्कर ने अपनी निन्दा आरम्भ की। महादेव में उन्होंने सैकड़ों दोष बतलाये और पार्व्वती से कहा कि इस पागलपन को छोड़ दे। किसी और योग्य वर के साथ विवाह कर। पार्वती ने शङ्कर के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर दिया। उसने कहा कि तुम मूर्ख हो। तुम महादेव को जानते ही नहीं। इसीसे ऐसी अपमानकारक बातें करते हो। पार्व्वती के उत्तर का जब महादेव प्रत्युत्तर देने लगे तब पार्व्वती बहुत बिगड़ी। उसने अपनी सखी से कहा—इसे मना कर। यह फिर भी कुछ प्रलाप करना चाहता है। देख, इसका होंठ फरक रहा है। अथवा, इसे बकने दे। मैं खुद ही यहाँ से उठी जाती हूँ। क्योंकि महात्माओं की निन्दा करनेवाले ही को नहीं, उसे सुननेवाले को भी पाप होता है। यह कहकर बड़ी शीघ्रता से पार्व्वती अपने आसन से उठी और शङ्कर को छोड़कर अन्यत्र चली जाने को तैयार हुई। तब शङ्कर ने अपना असली रूप धारण करके उसे पकड़ लिया—उसे चले जाने से रोका—

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि
> र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

शालिग्राम।]

शङ्कर को देखकर पार्वती काँप
पसीने पसीने हो गया। चलने के लिए
ऊपर उठाया था वह वैसा ही ऊपर उठा
समय पार्व्वती की वह दशा हुई जो दशा
आ जाने से नदी की होती है। न वह जा
ही सकी।

यदि किसी चित्रकार की दृष्टि इस
तो वह कृपा करके सोचे कि कुमार-सम्भव के
कोई अच्छा चित्र बन सकता है या नहीं।

[६]

अरुन्धती-समेत सप्तर्षि हिमाचल के
बनकर गये। हिमाचल से उन्होंने प्रार्थ
कि पार्वती का विवाह शङ्कर के साथ विधि
दीजिए। उस समय पिता के पास पार्व्वती भी
थी। वह सब बातें सुन रही थी। इस दृश्य का का
ने, थोड़े में, इस तरह वर्णन किया है—

> एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इस प्रकार जिस समय अङ्गिरा ने कहा, पिता
पास, नीचा सिर किये, खड़ी हुई, पार्व्वती कमल के
गिन रही थी। पार्वती के हृदय में

तरङ्गावलि उठी होगी उसे यदि कोई निपुण चित्रकार चाहे तो चित्र-द्वारा व्यक्त कर सकता है।

[७]

कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के आधार पर कई चित्र बन चुके हैं। यह नाटक इतना अच्छा है कि इसका आश्रय लेकर दस-बीस उत्तमोत्तम चित्र-बनाये जा सकते हैं। साधारण चित्र कितने बन सकते हैं, इसकी तो गिनती ही नहीं। इसके दूसरे अङ्क में राजा दुष्यन्त और विदूषक में शकुन्तला-सम्बन्धिनी बातचीत है। राजा ने शकुन्तला-विषयक अपना अनुराग और अपने विषय में शकुन्तला का भावोदय वर्णन किया है। मैं ही उसपर अनुरक्त नहीं, शकुन्तला भी मुझ पर अनुरक्त है—यह दिखाने के लिए राजा कहता है।—

> दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
> तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा
> आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
> शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥

तपोवन में दुष्यन्त से साक्षात् होने के बाद जब शकुन्तला अपने आश्रम की ओर, दुष्यन्त को छोड़कर, चली तब उसकी दोनों सखियाँ—प्रियंवदा और अनुसूया—तो कुछ आगे बढ़ गईं; वह पीछे रह गई। उस समय उसने किया क्या, यह इस पद्य में कालिदास ने राजा के मुख से

कहलाया है । उसका मतलब है—वह दो तीन क़दम चली और अकस्मात् खड़ी हो गई । क्यों ? इसलिए कि कुश की नोक पैर में चुभ गई थी । पर क्या यह बात सच थी ? अजी, नहीं । वह मेरे देखने का एक बहानामात्र था । इतना ही नहीं, एक और भी बहाना मुझे दुबारा देखने के लिए उसने किया । पास के पेड़ की शाखा से वह अपना वल्कल छुड़ाने लगी । शाखा में न तो वल्कल लिपटा था, न उलझा था, न कुछ । परन्तु वह उसे मेरी तरफ मुँह फेरकर इस तरह छुड़ाने लगी जैसे वह बेतरह उलझ गया हो । वह क्यों ? वह भी इसीलिए कि मुझे एक बार फिर देख ले ।

इस पद्य में—इस घटना में—इस दृश्य में एक अपूर्व भाव है । उसे राजा रविवर्म्मा ने एक चित्र में दिखाया है । वह चित्र सर्व-सुलभ है । सब कहीं मिल सकता है । परन्तु चित्रकला-विशारदों को वह चित्र पसन्द नहीं । इसी से, कुछ समय हुआ, बङ्गलौर की एक सभा ने विज्ञापन दिया था कि यदि कोई चित्रकार इस पद्य के आधार पर एक सर्वोत्तम चित्र बनावेगा तो उसे सोने का एक पदक दिया जायगा । कई चित्र बनाये गये । उनमें से बम्बई के पास घाटकुपर में जो रविउदय नामक प्रेस है उसके चित्रकार श्रीयुत महादेव आत्माराम जोशी का चित्र सब से अच्छा समझा गया । उन्हींको पदक मिला ।

अप्रैल १९११ ।

९-कालिदास की दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक।

भारत ! क्या तुम वही पुराने भारत हो ? क्या तुम वही हो जहाँ रघु, दिलीप और राम का राज्य था ? समय ने तुम्हारी स्मृति भी प्रायः नष्टप्राय करदी। समय की महिमा सर्वथा अज्ञेय और अतर्क्य है। उसीने तुम्हें कुछ का कुछ कर दिया। अब तो तुम पहचाने तक नहीं जाते।

भारत ! क्या कभी तुम्हें अपनी पूर्व स्मृति भी होती है ? तुम्हें भला कभी वे दिन भी याद आते हैं जब न रेल थी, न तार; न हाईकोर्ट था, न बोर्ड आव् रेविन्यू का दफ्तर;

न करंसी नोट थे, न प्रामीसरी नोट । यह वह समय था जब न कहीं नुमायशें थीं, न कांग्रेस थी, न मुसलिम-लीग थी, न हिन्दू-सभा थी । यह सब न था, पर था कुछ ज़रूर । वह जो कुछ था, भूलने की चीज़ नहीं । उसकी याद सुखकारक भी है, दुःखकारक भी । तुम्हारी उस पूर्व दशा का दृश्य देखने को अब हम लालायित हो रहे हैं, पर नहीं देख पड़ता। कृतज्ञ हैं हम गवर्नमेंट के जिसकी बदौलत प्रयाग की प्रदर्शिनी में तुम्हारे कुछ प्राचीन-लीला-दृश्य देखने को मिल गये। पर उतने से सन्तोष कहाँ ? उससे तो उन दृश्यों के दर्शन की लिप्सा और भी बढ़ गई है। क्या कभी उसकी पूर्ति भी होगी ?

बात आजकल की नहीं, सौ दो सौ वर्ष की भी नहीं । उसे हुए हज़ारों वर्ष बीत गये । उस समय राजा रघु का राज्य था । ससागरा पृथ्वी के वे पति थे । साकेत नगरी (प्राचीन अयोध्या) उनकी राजधानी थी । सत्पात्रों को दे डालने ही के लिये वे धनोपार्जन करते थे; प्रजा के काम में लगा देने ही के लिए वे कर लेते थे; निर्बलों को प्रबलों के उत्पीड़न से बचाने के लिए वे धनुर्बाण धारण करते थे। विद्वानों का प्यार वे अपने प्राणों से भी अधिक करते थे, उन्हें वे देवता समझते थे; उनके पैर तक अपने हाथों से धोते थे। यह मजाल न थी कि अरण्यवासी विद्वानों के

लगाये हुए एक छोटे से पौधे की एक टहनी भी कोई तोड़ ले—उनके खेतों से साँवाँ की एक बाल भी कोई चुरा लेजाय !

बड़े बड़े ब्रह्मज्ञानी विद्वान् बड़ी बड़ी बस्तियों में, उस समय, न रहते थे। बस्ती से कुछ दूर, जँगल में, वे अपनी पर्ण-शालायें बनाते थे। साँवाँ, कोदों और कँगनी की वे खेती करते थे। गायें भी वे पालते थे। उनके पास सैकड़ों नहीं, हज़ारों विद्यार्थी रहते थे। वे उन्हें विद्या का भी दान देते थे और भोजन-वस्त्र का भी। अन्याय, उत्पीड़न और चौर-कर्म का कहीं नाम न था। यज्ञ के पावन धूम से आसपास का प्रदेश सुरभित रहता था। वेद-घोष से दिशायें गुञ्जायमान रहती थीं। आचार्यों की आज्ञायें पालन करने में चक्रवर्ती राजा तक अपनी कृतार्थता मानते थे। ऐसे समय के भारत की एक झलक देखिए।

राजा रघु ने अपनी सारी सम्पत्ति विश्वजित् नामक यज्ञ में दे डाली है। पास कुछ भी नहीं रक्खा। पानी पीने के लिए पीतल का लोटा भी नहीं रह गया। रह क्या गया है ? मिट्टी ही का सकोरा, मिट्टी ही की हाँडी, मिट्टी ही की थाली ! इस प्रकार सर्वस्व-दान देकर आप रिक्त-हस्त हो गये हैं।

हार्दिक इच्छा है कि मैं पत्र-पुष्परूपी थोड़ीसी पूजा आप को करूँ।"

वरतन्तु—"वत्स! तुमने मेरे आश्रम में इतने दिन तक रहकर जो मेरी सेवा-शुश्रूषा की है उसीको मैं सबसे बड़ी गुरु-दक्षिणा समझता हूँ। वही क्या कम है?"

कौत्स—"नहीं आचार्य्य! कुछ आज्ञा तो अवश्य ही दीजिए। कृपा कीजिए। मेरा जी नहीं मानता।"

वरतन्तु—"कौत्स! दक्षिणा की अपेक्षा शिष्य की भक्ति मुझे विशेष सन्तोषदायिनी है। उसके मुक़ाबले में दक्षिणा कोई चीज़ नहीं। तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता।"

कौत्स—"महाराज! आपको मेरा अनुरोध मानना ही पड़ेगा। मुझे अपना सेवक समझकर कुछ अपने मुँह से ज़रूर कहिए।"

शिष्य की इस हठ को देखकर आचार्य्य का महासागर-सदृश शान्त चित्त भी क्षुब्ध हो उठा—

"अतिशय रगड़ करे जो कोई—
अनल प्रकट चन्दन ते होई"

उन्हें रोष हो आया। उन्हें कौत्स की ग़रीबी का कुछ भी ख़याल न रहा। वे बोले—"अच्छी बात है। तू गुरु-

दक्षिणा दिये बिना भी घर नहीं जाना चाहता तो अब देकर ही जाना। मैंने तुझे चौदह विद्यायें पढ़ाई हैं। अतएव एक एक विद्या के बदले एक एक करोड़ रुपया मुझे लादे।"

कौत्स इस आज्ञा को सुनकर ज़रा भी नहीं घबराया। उसने—"जो आज्ञा"—कहकर गुरु को प्रणाम किया और वहाँ से चल दिया। जिस ब्राह्मण-कुमार के पास कौपीन, कमण्डलु और पलाशदण्ड के सिवा और कुछ नहीं था उसने चौदह करोड़ अशर्फियाँ अपने विद्या-गुरु को देने की दृढ़ प्रतिज्ञा की।

ज़रा इस घटना पर ध्यान दीजिए। वरतन्तु ने कौत्स को बरसों पढ़ाया—कौन जाने बीस वर्ष पढ़ाया, या पच्चीस वर्ष या इस से भी अधिक—पढ़ाया ही नहीं, अपने घर रक्खा; भोजन-वस्त्र भी दिया और बीमार होने पर सुताधिक-स्नेह से उसकी रक्षा भी की। और इसके बदले में आपने पाया क्या? केवल शिष्य भक्ति! उसीको आपने फीस समझी, उसीको बोर्डिंग का खर्च, उसीको सब कुछ! यह तो हुआ आचार्य्य का हाल। अब शिष्य को देखिए। वह भक्ति-दान से सन्तुष्ट नहीं। वह यथा-शक्ति कुछ और भी देना चाहता है। बिना दक्षिणा के आचार्य्य के आश्रम से घर जाने के लिए उसका पैर ही नहीं उठता। और जब उससे चौदह करोड़ माँगा जाता है तब वह अपनी अ-

किञ्चनता का ज़रा भी ख़याल न करके प्रसन्नतापूर्वक कहता है—"बहुत अच्छा, आचार्य ! चौदह करोड़ ही दूँगा !" ऐसी अवस्था में कौन अधिक प्रशंसनीय है—गुरु या शिष्य ? इसका उत्तर देना कठिन है । गुरु भक्ति-भाव ही से ख़ुश है ! चेले के पास चौदह कौड़ियाँ भी नहीं, पर गुरु की आज्ञा के अनुसार चौदह करोड़ देने की यह प्रतिज्ञा करता है ! इस दृश्य का मुक़ाबला वर्तमान समय के विद्यालय-सम्बन्धी दृश्य से कीजिए । आकाश-पाताल का अन्तर है, तिल—ताड़ का अन्तर है, कौड़ी-मुहर का अन्तर है । है या नहीं ? इसी-से कहते हैं कि—भारत ! तुम कुछ के कुछ हो गये हो ।

अच्छा, इस दृश्य को आप देख चुके । अब इसके बाद का एक और दृश्य देखिए । उसमें आपको पूर्वोक्त वरतन्तु के आश्रम की झलक के सिवा और भी कुछ देखने को मिलेगा । साथ ही आपको यह भी देखने को मिलेगा कि भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजा ऐसे आश्रमों की कहाँ तक ख़बर रखते थे । इस दृश्य के दिखाने का पुण्य महाकवि कालिदास को है । अपने रघुवंश में वे जो कुछ लिख गये हैं उसीकी बदौलत हमें यह दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

चौदह करोड़ दे डालना, ऐसे वैसे आदमी का काम नहीं । राजाओं के लिए भी इतना बड़ा दान देना कठिन काम

है। यही सोचकर कौत्स ने राजा रघु से याचना करने
निश्चय किया। राजा रघु की जो स्थिति उस समय थी उस
उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। परन्तु कौत्स को इस
कुछ भी ख़बर न थी। अतएव वह गुरु-दक्षिणा के लि
धन प्राप्त करने के इरादे से, रघु के पास पहुँचा—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्
पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः
प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥

जिस रघु के ख़ज़ाने में, कुछ समय पहले, सोने के ढेर के ढेर भरे हुए थे उसके खाने-पीने के पात्र भी सोने ही के होंगे। इसमें क्या सन्देह हो सकता है? परन्तु यह समय सुवर्ण-सञ्चय का न था। वह तो सारा का सारा दिया जा चुका था। अब रघु के पास पात्र थे मिट्टी के। वे यद्यपि चमकदार न थे, तथापि रघु का शरीर उसके अत्युज्ज्वल यश से ज़रूर ख़ूब चमक रहा था। उसके शील-स्वभाव का क्या कहना है। अतिथियों का,—विशेष करके विद्वान् अतिथियों का—सत्कार करना वह अपना बहुत बड़ा कर्तव्य समझता था। इस कारण, जब उसने उस वेद-शास्त्र-सम्पन्न कौत्स के आने की ख़बर सुनी तब उन्हीं मिट्टी के पात्रों में अर्घ्य और पूजा की सामग्री लेकर वह उठ खड़ा हुआ।

तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञ—
स्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्
कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥

आजकल के राजा कहलाये जानेवाले लोगों की तरह रघु अपने आसन पर डटा नहीं बैठा रहा। कौत्स को देखते ही वह उठा। उठा ही नहीं, उठकर वह कुछ दूर तक गया भी और उस तपोधनी अतिथि को साथ लिवा लाया। रघु यद्यपि, उस समय, सुवर्ण-सम्पत्ति से धनवान् न था, तथापि मानरूपी धन को भी जो धन समझते हैं उनमें वह सबसे बढ़ चढ़कर था। महा-मानधनी होने पर भी रघु ने उस तपोधनी ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की। विद्या और तप के धन को उसने और सब धनों से बढ़कर समझा। चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु को अभ्यागत के आदरातिथ्य की विधि अच्छी तरह मालूम थी। अपने इस विधि-ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया। जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया तब रघु ने नम्रतापूर्वक, भृकुटी या हाथ के इशारे से नहीं, किन्तु वाणी द्वारा, कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया। इतना ही नहीं, राजा ने हाथ भी जोड़ने की ज़रूरत समझी। विद्वान् और तपस्वी की महिमा तो देखिए।

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां
कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं
लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः॥

हे कुशाग्रबुद्धे ! कहिए, आपके गुरु तो मज़े में हैं ? ये एक असाधारण विद्वान् हैं—ये सर्वदर्शी महात्मा हैं। जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों की रचना की है उनमें उनका स्थान सबसे ऊँचा है। मन्त्रकर्त्ताओं में ये सबसे श्रेष्ठ हैं। जिस तरह सूर्य्य से प्रकाश प्राप्त होने पर यह सारा जगत्, सुबह, सोते से जाग पड़ता है, ठीक, उसी तरह, आप अपने पूजनीय गुरु से समस्त ज्ञान-राशि प्राप्त करके और अपने अज्ञान-जात अन्धकार को दूर करके जाग से उठे हैं। ज्ञानावस्था की प्राप्ति बड़ी ही सुखदायक होती है, उसकी महिमा अवर्णनीय है। एक तो आपकी बुद्धि स्वभाव ही से कुश की नोक के समान तीव्र; फिर, महर्षि वरतन्तु से अशेष ज्ञान की प्राप्ति। क्या कहना है। महाराज आप धन्य हैं।

रघु ने, यहाँ पर, वरतन्तु की जो प्रशंसा की है और उनके लिए जो विशेषण दिये हैं उनसे बड़ी व्यापक ध्वनि निकलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़े महत्त्व की है। उससे कालिदास के मानसिक भावों का भी खूब पता चलता है। दो हज़ार वर्ष पहले की ये बातें समझने और सोचने लायक़ हैं।

[कालिदास की दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक ।

> कायेन वाचा मनसापि शश्व—
> यत्सम्भृतं वासवधैर्य्यलोपि ।
> आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः
> कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥

हाँ, महाराज ! यह तो कहिए—आपके विद्या-गुरु महर्षि वरतन्तु की तपस्या का क्या हाल है ? उनके तपश्चरण के बाधक कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं—विघ्नों के कारण तपश्चर्य्या में कुछ कमी तो नहीं आती ? महर्षि बड़ा ही घोर तप कर रहे हैं। उनका तप एक प्रकार का नहीं, तीन प्रकार का है। कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों से शरीर-द्वारा, तथा वेदपाठ और गायत्री आदि मन्त्रों के जप से वाणी और मन के द्वारा वे अपनी तपश्चर्य्या की निरन्तर वृद्धि किया करते हैं। उनका यह कायिक, वाचिक और मानसिक तप सुरेन्द्र के धैर्य्य को भी चञ्चल कर रहा है। वह डर रहा है कि कहीं वे मेरा आसन न छीन लें। इसीसे महर्षि के तपश्चरण-सम्बन्ध में मुझे बड़ी फ़िक्र रहती है। मैं नहीं चाहता कि उसमें किसी तरह का व्याघात पड़े; क्योंकि ऐसे ऐसे महात्मा मेरे राज्य के भूषण हैं। उनके कारण मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ।

> आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः
> संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ॥

कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः
श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥

आपके आश्रम के पेड़-पौधे तो हरे भरे हैं ? सूखे तो नहीं ? आँधी और तूफान आदि से उन्हें हानि तो नहीं पहुँची ? आश्रम के इन पेड़ों से बहुत आराम मिलता है। आश्रम-वासी तो इनकी छाया से आराम पाते ही हैं, अपनी शीतल छाया से ये पथिकों के श्रम का भी परिहार करते हैं। इनके इसी गुण के कारण महर्षि ने इन्हें बच्चे की तरह पाला है। थाल्हे बना बनाकर उन्होंने इनको समय समय पर सींचा है, तृण की टट्टियाँ लगाकर आड़ से इनकी रक्षा की है, काँटों से घेरकर इन्हें पशुओं से खा लिये जाने से बचाया है।

रघु के इस प्रश्न से यह ध्वनित होता है कि वायु पर भी राजा का अधिकार था। सर्वतोभाव से धर्मपूर्वक राज्य करने के कारण पञ्चमहाभूतों को भी उसने अपने वश में कर रक्खा था। पेड़ों को उखाड़ डालना या उनकी डालों को तोड़ देना तो दूर रहा, रघुवंशी राजाओं के राज्य में स्त्रियों के वस्त्र भी वायु बेकायदा नहीं उड़ा सकता था—

वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

कुशल-सम्बन्धी प्रश्नों में ऋषि के मृग-समुदाय को भी राजा रघु नहीं भूले। प्राचीन काल में अरण्यवासी

मुनि मृगों को भी पालते थे, वे गृह-पशुओं की तरह उनके आश्रमों में विचरा करते थे।

> क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वा—
> दभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
> तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला
> कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः॥

मुनिजन बड़े ही दयालु होते हैं। आपके आश्रम की हरिणियाँ जब बच्चे देती हैं तब ऋषि-लोग उनके बच्चों की बेहद सेवा-शुश्रूषा करते हैं। आश्रम के आसपास सब तरफ़ जङ्गल है। उसमें साँप और बिच्छू आदि विषैले जन्तु भरे पड़े हैं। उनसे बच्चों को कष्ट न पहुँचे, इस कारण ऋषि उन्हें प्रायः अपनी गोद से नहीं उतारते। उत्पन्न होने के बाद दस बारह दिन तक वे उन्हें रात भर अपने उत्सङ्ग ही पर रखते हैं। अतएव उनके नाभिनाल ऋषियों के शरीर ही पर गिर जाते हैं। परन्तु इससे वे ज़रा भी विषण्ण नहीं होते। जब वे बच्चे बढ़कर कुछ बड़े होते हैं तब यज्ञादि बहुत आवश्यक क्रियाओं के निमित्त लाये गये कुशों को भी वे खाने लगते हैं। परन्तु उन पर ऋषियों का अत्यन्त स्नेह होने के कारण उन्हें ऐसा करने से भी वे नहीं रोकते। उनके नैमित्तिक कार्यों में चाहे भले ही विघ्न आ जाय, पर मृग-शिशुओं की इच्छा का वे विघात नहीं करते। आपकी यह

चुपचाप रख देता था। समय पर राजकर्मचारी उसे उठा ले जाते थे। भारत का यह प्राचीन दृश्य किस सहृदय के कण्ठ को गद्गद् और नेत्रों को साश्रु न करेगा ?

> नीवारपाकादि कडङ्गरीयै—
> रामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
> कालोपपन्नातिथिकल्प्यभाग
> वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥

बलि-वैश्वदेव के समय अतिथि आजाने से उसे विमुख जाने देना मना है। अतएव जिस जङ्गली तृण-धान्य (साँवाँ, कोदों आदि) से आप अपने शरीर की भी रक्षा करते हैं और अतिथियों की भी क्षुधा शान्त करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं उसे, भूल से छूट आये हुए, गाँव और नगर के पशु खा तो नहीं जाते ?

इन ऋषियों के उदर-निर्वाह की साधन सामग्री को तो देखिए। वे खाते क्या थे—मका, कँगनी और साँवाँ! पर विद्वत्ता उनकी ऐसी थी कि साकेत के चक्रवर्ती राजा उनके पैर अपने हाथ से धोते थे। उनकी तपस्या का यह हाल था कि सुरराज इन्द्र भी उसे देखकर कम्पित होते थे!!! Plain living and high thinking का ऐसा उत्कृष्ट नमूना क्या कभी किसी देश की किसी जाति में और कहीं पाया जा सकता है ? जान पड़ता है, ये ऋषि अनाज

पाटकर या तो यहीं खेतही में रखते थे, या आश्रम के हाते में किसी खुली जगह, या, यहीं कहीं छप्परों के नीचे। अन्यथा नगर की गाय-भैंसों से उनके खाये जाने का डर न होता। इससे सिद्ध है कि उस समय चोरी का तो कुछ ज़िक्र ही नहीं; पशु भी ऋषियों के आश्रम तक नहीं पहुँचने पाते थे उनके मालिक उनकी रखवाली का बड़ा ही अच्छा बन्दोबस्त रखते थे। बहुत सम्भव है, इसमें गफ़लत होने पर उन्हें सख़्त राजदण्ड भोगना पड़ता रहा हो।

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं
सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं
सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥

सब विद्याओं में निष्णात करके आपके गुरु ने आपको गृहस्थाश्रम-सुख भोगने के लिए क्या प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा दे दी है? ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमों पर उपकार करने का सामर्थ्य एक गृहस्थाश्रम ही में है। आपकी उम्र अब उसमें प्रवेश करने के सर्व्वथा योग्य है।

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं
मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा
प्राप्तोऽसि सम्भावयितुं वनान्माम्॥

आप हमारे परम-पूज्य हैं। अतएव सिर्फ आपके आगमन से ही मुझे विशेष आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। यदि आप दया करके मुझसे कुछ सेवा भी लें तो अवश्य मुझे विशेष आनन्द हो सकता है। अतएव आप मेरे लिए कुछ काम बतलावें कुछ तो आज्ञा करें। हाँ, भला यह तो कहिए कि आपने जो मुझ पर यह कृपा की है यह आपने अपनेही मन से की है या गुरु की आज्ञा से, वन से इतनी दूर मेरे पास आने का कारण क्या ?

इस विस्तृत कुशल-प्रश्नावली के समाप्त होने पर कौत्स ने कहा—

"राजन्! हमारे आश्रम में सब प्रकार कुशल है। हमारे तपश्चरण में कोई विघ्न नहीं; आश्रम-पादप खूब अच्छी दशा में हैं; जल की कमी नहीं; अन्न काफी है; पश्वादिकों का कोई उपद्रव नहीं। आपके राजा होते, भला, हम लोगों को कभी स्वप्न में भी कष्ट हो सकता है। सूर्य्य के मध्य आकाश में स्थित रहते, मजाल है जो रात्रिसम्भूत अन्धकार अपना मुँह दिखाने का हौसला करे! रहा मेरे आने का कारण, सो मैं गुरु के लिए आपसे कुछ माँगने आया था। परन्तु मैं देर से आया। आपसे माँगने का समय जाता रहा। आपके ये मिट्टी के पात्र इसके प्रमाण हैं। आप प्रसन्न रहें। अब मैं आपसे इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहता।

मैं तो मनुष्य हूँ। गुरु की कृपा से चार अक्षर मैंने पढ़े हैं। अतएव ऐसे समय में याचना करना मुझे मुनासिब नहीं। सारे संसार को जल-वृष्टि से आप्लावित व शरत्काल को प्राप्त होनेवाले रिक्त मेघों को, पतङ्ग-योनि उत्पन्न चातक भी, अपनी याचनाओं से तङ्ग नहीं करते"

राजा ने उत्तर दिया—"अच्छा, बतलाइए कौनसी चीज़ आप अपने गुरु को देना चाहते हैं अ कितनी देना चाहते हैं?

इस पर कौत्स ने सब हाल कहा। सुनकर राजा बोला—"कुछ चिन्ता नहीं। आप दो तीन दिन मेरी अग्नि-शाला में ठहरिए। मैं आपकी अर्थ-सिद्धि के लिए चेष्टा करूँगा। मेरे पास से आपका विफल-मनोरथ जाना मेरे लिए बड़े ही कलङ्क की बात होगी। यह मैं नहीं चाहता—यह मुझे असह्य होगा"।

रघु के ख़ज़ाने में कौड़ी न थी। चौदह करोड़ द्रव्य कहाँ से आवे? राजा धर्मसङ्कट में पड़ा। अन्त में उसने कुबेर पर चढ़ाई करके उतना द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय किया। उसने अपना शस्त्रास्त्र-पूर्ण रथ सजाया प्रातःकाल यात्रा करने के इरादे से रात को वह उसी रथ पर सोया। पर उसे प्रस्थान करने की ज़रूरत न पड़ी। रात ही को उसका ख़ज़ाना अशर्फ़ियों

एकस्मात् भर गया। अतएव उसने वह सब धन कौत्स सामने लाकर हाज़िर कर दिया। वह चौदह करोड़ से ही अधिक था। ख़याल था सिर्फ़ चौदह करोड़ के लिए; न्तु उतना ही देना रघु के लिए कोई विशेष उदारता की त न थी। इससे राजा वह सारा का सारा धन कौत्स को ने लगा। परन्तु वह मतलब से अधिक क्यों लेता! उसने मकर चौदह करोड़ ले लिया। बाक़ी सब वहीं पड़ा रहा। ब बतलाइए उन दोनों में से किसे अधिक प्रशंसा का पात्र मझना चाहिए—दाता रघु को या याचक कौत्स को? धु की राजधानी, साकेत नगरी, के निवासियों ने तो उन नों को बराबर एक ही सा अभिनन्दनीय समझा—

> जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
> द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
> गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
> नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

यह प्राचीन भारत की यह एक धुँधली सी झलक है। उस ज़माने में विद्वत्ता की कितनी क़दर थी, ब्राह्मण अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करते थे; वे कहाँ रहते थे, किस तरह रहते थे, और क्या खाते थे; राजा कितने प्रजा-पालक थे, कितने दानी थे, कितने धर्म्मनिष्ठ थे; ब्राह्मण कितने सत्यनिष्ठ और राजाओं को कहाँतक